भारतीय इतिहास के कीर्ति स्तम्भ





भारतीय इतिहास के कीर्ति स्तम्भ

(प्रथम भाग)

卐

लेखक :
पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१२ मूल्य : १५.०० रुपये

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

लेखक :

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

मुद्रक :

युग निर्माण योजना प्रेस

गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.

यह संकलन

हममें से अधिकांश इतिहास पढ़ते हैं परंतु कुछ लोग होते हैं जो इतिहास गढ़ते हैं । ऐसा भी नहीं नहीं है कि इतिहास गढ़ने वाले ये सभी महावीर साधन सम्पन्न होते हों । इनमें से कितने ही असुविधाओं में ही पलते हैं और आगे बढ़ते हैं । संकल्प के धनी इन इतिहास पुरुषों के समक्ष सुविधाहीनता अपने घुटने टेक देती है और ये अपने लक्ष्य तक पहुँचकर ही दम लेते हैं । महर्षि अगस्त्य ने देखा कि भारत के उत्तर और दक्षिण को जोड़ने में विंध्याचल सबसे बड़ी बाधा है । उन्होंने संकल्प किया कि विंध्याचल को झुकना ही पड़ेगा और संसार ने देखा कि आकाश को छूने की आकांक्षा रखने वाला वह अहंकारी विंध्य पर्वत उनके सामने जो नत मस्तक हुआ तो आज तक वैसा ही पड़ा हुआ है । भारत के ऋषियों-मनीषियों ने मानस मंथन कर ज्ञान का जो अमृत कुंभ प्राप्त किया है उसकी बूँदें विश्व के हर मानव को मिलना चाहिए-ऐसा एक विचार उन उदारमना के अंतःकरण में प्रस्फुटित हुआ । परंतु उद्दंड समुद्र बाधा बनकर खड़ा हो गया । महर्षि ने कहा कि मैं समुद्र को ही सुखा डालूँगा और सचमुच उनके ज्ञान प्रचारकों के लिए समुद्र सूख ही सा गया । ज्ञान के अमृत कण सुदूर विश्व तक पहुँच गए ।

इतिहास का एक बड़ा सत्य यह भी है कि साधनों की विपुलता या तो मनुष्य को दुराभिमानी बना देती है या आलसी और निकम्मा । जीने का मजा तो तभी है जब अपनी राह स्वयं बनाई जाय और मंजिल तक पहुँचकर ही दम लिया जाय । ऐसे ही लोग इतिहास गढ़ते हैं और इतिहास पुरुष कहलाते हैं ।

हम भी इतिहास पुरुष न सही पर इतिहास तो गढ़ ही सकते हैं । यह संभव है कि हमारे द्वारा गढ़े गए इतिहास का प्रकाश हमारे घर-परिवार, सुहृद-संबंध, इष्ट-मित्र, मोहल्ला-नगर, जनपद-अंचल तक ही सीमित रह जाय । परंतु कर्मवीरों के लिए इससे क्या फर्क पड़ता है और फिर कुछ न करने से कुछ करना तो अच्छा ही होगा । अतः आइए ! इस लघु-पुस्तिका में संकलित कुछ इतिहास पुरुषों के चरित्रों को पढ़कर उस पर मनन-चिंतन कर कुछ करने की प्रेरणा ग्रहण करते हुए संकल्प शक्ति अर्जित की जाय ।

-प्रकाशक

विषयानुक्रम



भारत राष्ट्र के पुनर्निर्माता
आचार्य चाणक्य

बालक विष्णुगुप्त ने माँ को रोते हुए देखा तो बहुत चिंतित हो उठा । विष्णुगुप्त के लिए इस संसार में अपना कोई था तो माँ और उस वृद्धा के लिए कोई था जिसे वह अपने बुढ़ापे का सहारा कह सके तो विष्णुगुप्त । इसलिए बालक का चिंतित हो उठना स्वाभाविक था । उसने पूछा-"माँ ! तुम क्यों रो रही हो ।"

"रोऊँ नहीं तो क्या करूँ बेटा !"-माँ ने कहा-"तुम्हारा भाग्य बहुत बड़ा है । भारतवर्ष के शासन की बागडोर तुम्हारे हाथों में आने वाली है ।"

इसमें रोने की क्या बात है । बल्कि यह तो एक मातृ हृदय के लिए बड़ी प्रसन्नता की बात हो सकती है । विष्णुगुप्त को माँ के रोने का कोई कारण समझ में नहीं आया । तो पूछ ही लिया उसने-"इसमें रोने की क्या बात है माँ ! तुम्हें तो खुश होना चाहिए ।"

"रो इसलिए रही हूँ बेटा कि"-वृद्धा ने बड़े भोलेपन से दूरदर्शिता का परिचय देते हुए कहा-"देखा गया है जो पुत्र बड़ा आदमी बन जाता है वह अपनों को भूल जाया करता है । मुझे चिंता लग रही है कि इस प्रकार तुम भी मुझे भूल जाओगे तो मैं कैसे जिंदा रहूँगी ।"

अब कारण समझ में आ गया । हालांकि यह प्रसंग हास्यास्पद है परंतु माँ और पुत्र के प्रेम और श्रद्धा का जो परिचय इस घटना से मिलता है वह अन्यंत्र कहीं दुर्लभ है । माँ की बात को समझकर विष्णुगुप्त के बाल मस्तिष्क में एक प्रश्नचिह्न उभरा-किस आधार पर यह माना जा सकता है कि मैं आगे चलकर भारत का शासन सूत्र सम्हालूँगा और अपनी माँ को भूल जाऊँगा । पूछा उसने-"माँ ! तुमसे किसने कहा कि मैं राजा बनूँगा ।"

उसी तरह बिसुरते हुए वृद्धा बोली-"तुम्हारे ये जो आगे के दो दाँत हैं न, इन पर बने चिह्न तुम्हारे भविष्य के संबंध में यह बात कह रहे हैं ।"

विष्णुगुप्त वस्तु तथ्य से अवगत होकर तुरंत एक निर्णय पर पहुँचा और उठकर बाहर चला गया । कहीं से ढूँढ़कर एक पत्थर ले आया वह और माँ के

सामने बैठ गया । माँ को कुछ समझ में नहीं आया कि वह क्या करने जा रहा है । वह कुछ समझ सके इसके पूर्व ही विष्णुगुप्त ने लाये पत्थर से अपने ही हाथों द्वारा दाँतों पर प्रहार कर लिया । दो चार प्रहार में ही दाँत टूट गए, खून बहने लगा आगे के दाँतों से । फिर वह बोला-"बस न माँ ! अब तो तुम्हारी चिंता दूर हो गयी ।"

छाती से लगा लिया वृद्धा ने अपने लाड़ले को और गद्गद् कंठ से कहने लगी-"पगले, मैंने दाँत तोड़ने के लिए कहा था क्या तुझसे । वह कुछ कह नहीं पा रही थी और न ही विष्णुगुप्त के मुँह से कोई शब्द निकल पा रहे थे । दोनों भावनात्मक अनुभूति के उस तल पर पहुँच गए थे जहाँ शरीर का कोई भी अंग अपनी बात कहने में असमर्थ हो जाता है और हृदय से हृदय ही बातें कर पाता है ।

उत्तर भारत के सीमांत प्रदेश में जहाँ आजकल पाकिस्तान है-रावलपिंडी से भी आगे तब एक सुंदर नगर तक्षशिला बसा हुआ था । जहाँ कि यह घटना घटी वहीं रहते थे दोनों माता-पुत्र एक दूसरे की सेवा पालन करते हुए । विष्णुगुप्त के पिता चणक तो बेटे का जन्म होने के कुछ समय बाद ही चल बसे थे । अब उसके लिए बच रही थी अपनी वृद्धा माँ । उस माँ ने ही मेहनत-मजदूरी कर विष्णुगुप्त का पालन किया और बचपन से ही स्वावलंबन की शिक्षा दी । विष्णुगुप्त जैसे बड़ा होता गया, उसकी बौद्धिक चेतना विकसित होने लगी । वह माँ के उपकारों का प्रतिदान तो क्या दे सकता था परंतु एक समझदार और सुशील पुत्र की भाँति अपना कर्तव्य अवश्य करने लगा । वह अपने हाथों से भोजन बनाता, माँ को खिला कर खुद खाता । उसके कपड़े धोता और बड़े उत्साह तथा प्रेम से अपनी माँ की सेवा करता ।

उन्हीं दिनों भारतवर्ष पर सिकंदर ने आक्रमण किया । समुद्र के तटवर्ती क्षेत्रों को जीतकर लूट मार मचा कर अपने देश लौट गया । तक्षशिला भी उसका निशाना बनने से नहीं बची । यवनों ने वहाँ भी विनाश लीला खेली परंतु ब्राह्मण युवक विष्णुगुप्त सब कुछ देख-जान कर भी शांत ही रहा । जी तो बहुत होता था कि यवनों को उनके किए का फल चखाया जाय परंतु बेवसी । अकेले ही उन लोगों का क्या बिगाड़ा जा सकता था । अधिक से अधिक पाँच-दस यवन सैनिक मारे जा सकते थे और अंत तो अपना ही होता । दूरदर्शिता का तकाजा था

कि जोश में होश न खोया जाये । जीते हुए प्रदेश वापस लेने तथा यवनों को भारतीय जनशक्ति का परिचय देने के लिए यह आवश्यक था कि बिखरे देश को संगठित किया जाय ।

कुछ समय बाद वृद्धा माता असार संसार छोड़कर चल दी । विष्णुगुप्त को बड़ी वेदना तो पहुँची परंतु उसने निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति के लिए स्वयं को पूर्णतया स्वतंत्र और समर्थ पाया । उसके मन में आसिंधु हिमाचल तक एक संगठित राष्ट्र की स्थापना का संकल्प था । वह विष्णुगुप्त से चाणक्य बनकर अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए चल पड़ा । चाणक्य ने अपने सब ग्रंथ और पत्र इकट्ठे किये तथा एक मित्र के पास रख दिये उन सबको और तक्षशिला को प्रणाम किया ।

बड़े-बड़े राजमार्ग तय करते हुए चाणक्य ने गांधार देश की राजधानी छोड़ दी । चारों ओर घना वन था । दूर-दूर तक कोई ग्राम न दिखाई देता । दिन-रात चलते रहे वे, जंगली खूंख्वार पशुओं के बीच भी । यों अब घर रुकने का भी कोई प्रयोजन नहीं था । वहाँ रहकर भी वे क्या करते इसलिए वे जगह-जगह घूमते रहे क्या किया जाना चाहिए इसकी धुन में लगे रहकर ।

इसी प्रवासकाल में उन्होंने सुना कि पाटलिपुत्र राजा धनानंद बहुत बड़े सम्राट् हैं । उसके पास पर्याप्त सेनायें हैं और साथ ही साथ वह वीर भी हैं । चाणक्य ने सोचा कि क्यों न भारत के गठन में घनानंद को माध्यम बनाया जाय । यह सोचकर उन्होंने पाटलिपुत्र की ओर प्रस्थान किया । लंबी यात्रायें कर चाणक्य मगध साम्राज्य की इस सुंदर राजधानी में पहुँचे । वहाँ जाकर देखा राजा घनानंद के चारों ओर चापलूस तथा चाटुकार ढंग के लोग ही जमा हैं । स्वयं राजा भी उन लोगों का साथ छोड़ना पसंद नहीं करता और सुरा-सुंदरी में मस्त रहता है । यही नहीं घनानंद से जब चाणक्य ने सम्पर्क स्थापित किया तो उनका बड़ा अपमान भी किया गया । इस अपमान से चाणक्य बौखला उठे और उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक मैं नंदवंश की ईंट से ईंट न बजा दूँगा, चैन नहीं लूँगा । इसका एक कारण भी था । कोई शक्ति किसी सत्कार्य में सहायक नहीं बनती इसका मतलब यह नहीं कि वह निरपेक्ष सी रह जाती है । तटस्थ रहने पर उससे खतरा तो बना ही रहता है, अगर वह कुछ न भी करे तो उसका कुछ नहीं करना भी उस कार्य के मार्ग के मार्ग में रोड़ा आ जाता है ।

चाणक्य पाटलिपुत्र से निराश होकर लौट रहे थे तब मार्ग में उन्हें एक प्रतिभाशाली बालक दिखाई दिया-चंद्रगुप्त । यह बालक, कहते हैं बिहार की ही किसी निर्वासित रानी का बेटा था । चाणक्य ने चंद्रगुप्त की माता से सम्पर्क साधा और उसे अपने साथ रखकर शस्त्र विद्या सिखाने के लिए राजी कर लिया ।

चंद्रगुप्त की माँ जब सहमत हो गयीं तो चाणक्य उस होनहार बालक को अपने साथ ले आये । उन्होंने विंध्याचल पर्वत पर रमणीक स्थान देखा तथा वहाँ अपना एक आश्रम स्थापित कर लिया । वहीं से कुछ आदिवासी बालकों को इकट्ठा कर लिया और क्षात्रधर्म की शिक्षा देने लगे । युद्ध विद्या, राजनीति, धर्मनीति आदि विषयों में चंद्रगुप्त को निष्णात कर चाणक्य ने अपने अभियान का एक चरण पूरा कर लिया । भारत के सबसे बड़े राज्य मगध को जीतना कोई आसान काम नहीं था । चाणक्य इस बात को भली भाँति समझते थे । परंतु वे यह भी जानते थे कि मगध राज्य में कुछ ऐसे तत्व सक्रिय हो गए हैं जो उसे निरंतर क्षीण बनाते जा रहे हैं ।

एक-एक सिक्का इकट्ठा कर चाणक्य सेना संगठित करने लगे । उनकी सैनिक संख्या यद्यपि बहुत कम ही थी परंतु जो भी सैनिक थे वे वीर, दृढ़ और बहादुर । इस छोटी सी सेना को लेकर ही चंद्रगुप्त ने चाणक्य के मार्गदर्शन में मगध राज्य पर छुटपुट आक्रमण करना आरंभ किया । गाँव पर गाँव और नगर पर नगर छुटपुट आक्रमणों से जीतता हुए चाणक्य पाटलिपुत्र की ओर बढ़ने लगे ।

मगध राज्य का महामंत्री राक्षस बड़ा ही चतुर और कुशल राजनीतिज्ञ था । घनानंद को अपने इस मंत्री पर गर्व था लेकिन चंद्रगुप्त और चाणक्य ने अपनी शक्ति धीरे-धीरे बढ़ा कर मगध को जीत ही लिया । चंद्रगुप्त का राज्याभिषेक कराकर चाणक्य अगली योजनाओं को मूर्तरूप देने में संलग्न हुए । उधर मगध का महत्वाकांक्षी सेनापति राक्षस हारे हुए राज्य पर पुनः अधिकार कर लेना चाहता था । राक्षस चंद्रगुप्त का शत्रु भले ही रहा हो परंतु था देशभक्त । भारत के सीमाप्रांत का राज था सेल्यूकस-सिकंदर का प्रतिनिधि । उन दिनों वह भारत विजय के स्वप्न देख रहा था । उसने अपने दूत को भेजा राक्षस के पास कि वह और सेल्यूकस दोनों मिलकर चंद्रगुप्त को परास्त करने का प्रयत्न करें ।

लेकिन राक्षस ने स्पष्ट कह दिया-"कान खोलकर सुन लो । मैं चंद्रगुप्त और

चाणक्य का नाश चाहता तो हूँ परंतु करूँगा सब कुछ अपने बलबूते पर । किसी भी मूल्य पर मैं मातृभूमि से द्रोह नहीं करूँगा । प्रतिशोध के लिए मैं अपना देश विदेशियों के हाथ नहीं बेचूँगा ।" उधर चाणक्य भी राक्षस की गतिविधियों पर नजर रखे हुए थे । जब उन्होंने यह घटना सुनी तो आँखों में आँसू बह उठे । राक्षस की देश भक्ति उन्हें प्रभावित कर गयी और उसकी प्रतिभा का उपयोग राष्ट्र निर्माण में करने का निश्चय किया । उसी दिन वे राक्षस के घर गए । राक्षस ने उनका यथोचित सत्कार किया । चाणक्य ने अपना परिचय देते हुए कहा-"मैं चाणक्य हूँ और आपके द्वार पर भिक्षा माँगने के लिए आया हूँ ।"

महामंत्री बोले-"क्यों हँसी करते हो ब्राह्मण देव ! मैं अब किस योग्य हूँ । मात्र एक हारा हुआ सैनिक ही तो हूँ ।"

विभिन्न पहलुओं से उन्होंने राक्षस को अपना मिशन समझाया और कहा- "हमारे देश को एक सिरे से दूसरे सिरे तक संगठित करने के लिए आप शासन की बागडोर सम्हालिए ।" चाणक्य ने उनसे महामंत्री पद सम्हालने का आग्रह किया और अगले ही दिन इस पद पर जिम्मेदारी राक्षस को सौंपकर नगर से बाहर चले गए । जिस राज्य के निर्माण में उन्होंने सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी उसकी सुविधाओं का लाभ उठाने से पूर्व ही चाणक्य ने वह स्थान छोड़ दिया । यह उनकी अनन्य निस्पृहता का ही परिचायक था । चंद्रगुप्त को अपने निष्ठावान शिष्य को मगध का अधिपति बनाने के बाद ही चाणक्य का कार्य समाप्त नहीं हो गया वरन् असली काम तो अब आरंभ हुआ था भारत का एक संगठित राष्ट्र के रूप में राजनैतिक पुनर्निर्माण । और इसी ध्येय के लिए उन्होंने मगध राज्य के संचालन मार्गदर्शन का उत्तरदायित्व भू० पू० महामंत्री राक्षस को सौंपा था । ताकि वे स्वतंत्रतापूर्वक अपने ध्येय की पूर्ति में लग सकें ।

आचार्य चाणक्य, महामंत्री राक्षस और सम्राट् चंद्रगुप्त ने परस्पर विचार-विनिमय किया कि किस प्रकार भारत को एक सूत्र में बाँधा जाये और महत्वपूर्ण निर्णय बिंदुओं पर पहुँच कर आचार्य चाणक्य देश भ्रमण के लिए निकल पड़े । पुंड्र पांचाल, हरिद्वार, बृहदहद्द, कलिंग (उड़ीसा), कांपिल्य दक्षिणी उत्तरप्रदेश आदि देशों की यात्रा करते हुए उन्होंने अपना अभियान चलाया । राजसत्ता से परामर्श और जनसत्ता का जागरण ये दोनों ही पद्धतियाँ अपनाकर चाणक्य ने अपना मंतव्य पूरा

किया । उधर यवन सम्राट् सेल्युकस सिंधु नदी के उस पार बैठा भारत विजय की योजनायें बना रहा था ।

सिंधुराज्य के निर्माता चाणक्य का एक लक्ष्य यह तो था ही कि जीती हुई जमीन वापस लेना है । संगठित प्रांतों की सेनाओं ने मिलकर सिंधु के पश्चिमी तट पर मोर्चा बंदी किये बैठी यवन सेनाओं पर अचानक आक्रमण कर दिया । इस विजय वाहिनी का नेतृत्व चंद्रगुप्त कर रहा था और मार्गदर्शन चाणक्य । यवन सेनायें तो यह समझ रही थीं कि जिस देश को कुछ समय पूर्व ही उन्होंने रोंदा है, वह ऐसा दुस्साहस क्या करेगी । वह असावधान ही थी परंतु जब उनके अधिपति सेल्यूकस को पता चला कि चंद्रगुप्त के नेतृत्व में भारतीय सेनायें आगे बढ़ रही हैं तो उसे बड़ी हँसी आयी । कुछ समझदार लोगों ने तो संधि के लिए कहा, परंतु मदोन्मत्त यवन सेनानायक को तो बदली परिस्थिति पर विश्वास ही नहीं था ।

अंततः युद्ध हुआ और सेल्यूकस को अप्रत्याशित पराजय खानी पड़ी । पामीर से हेरात तक हिंदूकुश पर्वत का सारा राज्य, कंधार और अफगानिस्तान तथा विलोचिस्तान का प्रदेश हार कर सेल्यूकस ने अपनी पुत्री हेलेन भी चंद्रगुप्त को ब्याह दी । अब हिमालय से कन्याकुमारी और ब्रह्मदेव से गांधार तक अखंड भारत की स्थापना हो चुकी थी । इतिहासकार विंसेंट एवस्मिथ ने लिखा है-चंद्रगुप्त के राज्य की सीमा इतनी दूर-दूर तक फैल गयी थी कि बाद में मुगल सम्राट् और अंग्रेज भी लाख कोशिशें करने के बावजूद नहीं बना पाये थे ।

पाटलिपुत्र पहुँचकर चाणक्य ने देश भर के राजाओं को निमंत्रण दिया और एक बड़ा समारोह आयोजित किया जिसमें चंद्रगुप्त को भारत का सम्राट् बनाया गया । देश के सभी राज्यों के आंतरिक मामलों में तो पूरी स्वतंत्रता दी गयी परंतु उन्हें सर्वथा निरंकुश भी नहीं छोड़ गया । परस्पर के व्यवहार, सुरक्षा और अन्य मामलों में वे केंद्र के ही अधीन रहेंगे-ऐसी घोषणा की गयी ।

अब भारतवर्ष और उसके निर्माता चाणक्य का यश दूर-दूर तक फैलने लगा । अन्य देशों के लोग उन्हें एक विशाल राष्ट्र के निर्माता के रूप में जानने लगे । एक दिन की बात है कोई विदेशी यात्री पाटलिपुत्र में आया और राजमार्ग पर घूमता हुआ नागरिकों से पूछने लगा-"महर्षि चाणक्य किस भवन में रहते हैं ।"

लोगों ने कहा-"भगवन ! वे किसी भवन में नहीं रहते हैं । ठनसे मिलना हो

तो नगर के बाहर ऊपर की ओर एक झोंपड़ी है वहाँ जाओ ।"

पहले तो विश्वास नहीं हुआ उस विदेशी को कि इतने बड़े राष्ट्र का निर्माता शहर से बाहर किसी झोंपड़ी में रहता होगा । फिर भी वह गया बतायी दिशा में, उसे एक झोंपड़ी दिखाई दी-घास-फूस की । समीप जाने पर उसने देखा-शरीर पर एक वस्त्र लपेटे, दुर्बल और कृशकाय कोई वृद्ध पुरुष प्रभु के ध्यान में मग्न हैं । कहीं मैं गलत स्थान पर तो नहीं पहुँच गया हूँ-यह सोचकर उसने डरते-डरते प्रवेश किया कुटिया में । जब उसे विश्वास हो गया कि यही हैं वह महापुरुष जिसने भारत राष्ट्र का निर्माण किया है तो अनायास ही उसके मुँह से निकल गया-"जिस देश का सबसे बड़ा महान व्यक्ति इतनी सादगी और त्याग से भरा जीवन व्यतीत करता हो वह क्यों न उन्नति करेगा ।

विदेशी की इस प्रतिक्रिया में ही तत्कालीन भारत के उत्कर्ष का राज छिपा हुआ है । सब सुविधाओं को विवेकपूर्वक छोड़ देना ही सर्वोच्च त्याग है और बिना त्याग है और बिना त्याग बलिदान के कोई राष्ट्र जीवित नहीं रहता है ।

चंद्रगुप्त मौर्य
जो अनाथ बालक से राष्ट्र नायक बना

ईसा से साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व की बात है । मगध की राजधानी पाटलिपुत्र का एक अहीर जब अपने बाड़े में गाय-भैंसों को चारा-पानी देने के लिए घुसा तो एक शिशु का रुदन स्वर सुनाई दिया । वह उसी आवाज की ओर दौड़ा गया । देखा एक नवजात शिशु पड़ा हुआ बिलख रहा था । शायद अपने उस दुर्भाग्य पर जिसके कारण उसे जन्म के तुरंत बाद ही अपनी माँ से बिछुड़ना पड़ा था ।

अहीर ने आस-पास देखा । शायद उसकी माँ यहीं कहीं हो, तो देखा पीछे के दरवाजे में एक स्त्री तुरंत मुड़ी और बड़ी तेजी से चली गयी । अहीर ने फिर भी उस स्त्री का मुँह देख लिया और पहचान गया कि यह मगध के एक सरदार की धर्मपत्नी है । जिसका पति युद्ध में मारा गया था । कुछ ही दिन पूर्व की तो बात

थी । तब वह स्त्री अपना वैधव्य काटने के लिए अपने भाई के पास आयी थी ।

भाई ने अपनी एकमात्र बहन को संरक्षण और सम्मान दिया । उसका प्रसब काल निकट ही था तब भाई को चिंता होने लगी । बेचारा अपना पेट ही तो बड़ी मुश्किल से भर पाता था फिर बहन के बच्चे का भार कैसे उठाता । परंतु उसने अपनी चिंता को व्यक्त नहीं किया ।

बहन भी समझदार थी इसलिए उसने अपने बच्चे को किसी अच्छे घर के आस-पास छोड़ आने का निश्चय कर लिया ताकि उसका भली-भाँति पालन-पोषण हो सके । यही सोचकर वह प्रसव के बाद अपनी ममता का बंधन तोड़कर नवजात पुत्र को उक्त अहीर के बाड़े में छोड़ने के लिए आयी थी । वह जानती थी कि यह अहीर दयालु है । इसलिए बच्चा अच्छी तरह यहीं पल सकेगा और आँखों के सामने भी रहेगा ।

यही बालक आगे चलकर चंद्रगुप्त मोर्य के नाम से भारत राष्ट्र के सम्राट् पद पर बैठा और अपना ही नहीं देश का नक्शा भी बदल कर रख दिया । चंद्रगुप्त के पिता मोरिय वंशीय क्षत्रिय थे । जब वह गर्भ में था तभी वे एक लड़ाई में मारे गए । बचपन से ही बालक चंद्रगुप्त को विपत्तियाँ और कठिनाइयाँ देखनी पड़ी ।

जिस अहीर के पास माँ ने अपने बेटे को छोड़ा था वह भी बड़ा लोभी निकला । चंद्रगुप्त जब बड़ा हो गया तो गाँव में एक दिन कोई शिकारी आया । चंद्रगुप्त अपने घर के सामने ही खेल रहा था । दूध मिलता था खूब पीने के लिए और दिन भर खेलना-कूदना । बेफिक्री और अच्छे भोजन ने चंद्रगुप्त को परिपुष्ट शरीर प्रदान किया । शिकारी निःसंतान था इसलिए उसने निश्चय किया कि इस बच्चे को अपना बेटा बनाना चाहिए ।

शिकारी ने आस-पास के पड़ोसियों से चंद्रगुप्त के बारे में पूछताछ की तो पता चला कि यह बालक उस अहीर का अपना बेटा नहीं है और प्रयत्न किया जाय तो असंभव नहीं है कि वह उसे देने के लिए राजी हो जाये । शिकारी ने समझ-बूझ से अहीर के सामने इच्छा व्यक्त की । अहीर ने कह दिया कि चंद्रगुप्त पर किया गया अभी तक का खर्च कोई चुका दे तो वह उसे चुकाने वाले को सौंप देगा ।

शिकारी ने अहीर को काफी धन देकर चंद्रगुप्त को अपने साथ ले जाने के लिए तैयार कर लिया । जब चंद्रगुप्त की माँ को यह सब पता चला तो वह बड़ी

दुखी हुई । अब तक तो वह अपने बेटे को देख कर ही संतोष कर लिया करती थी । परंतु वह अब उसकी आँखों से भी ओझल हो रहा था । किसी तरह उस बेचारी ने अपना मन मार लिया और चंद्रगुप्त शिकारी के साथ चला गया । शिकारी भी अच्छा धनवान था । काफी संपत्ति और पशुधन था उसने पास । शिकारी ने उसे पिता का प्यार दिया । जिसके परिणाम स्वरूप वह स्वयं को और भी सुखी तथा निश्चिंत अनुभव करने लगा ।

शिकारी के साथ रहकर चंद्रगुप्त कई गुण और शस्त्र विद्या सीख गया । कुछ बड़ा होने पर वह भी अपने नये पिता के मवेशी चराने लगा । साथ में दूसरे ग्वालबाल भी होते । ढोर तो इधर-उधर चरते रहते और चंद्रगुप्त अपने साथियों के साथ तरह-तरह के खेल खेला करता । कभी राजा-प्रजा का, कभी चोर-सिपाही का । अच्छे डीलडौल और वय में भी बड़ा होने के कारण इन खेलों में मुख्य पात्र तथा निर्णायक चंद्रगुप्त को ही बनाया जाता था । एक दिन की बात है ग्वालबाल साथियों के साथ वह राजा-प्रजा का खेल खेल रहा था । पास से ही गाँव की ओर एक सड़क जाती थी । उस सड़क पर से निकला एक क्षीणकाय दुर्बल ब्राह्मण ।

बालकों को राजा-प्रजा का खेल खेलते देख कौतूहलवश वह वहीं रुक गया । मनोरंजन की दृष्टि से वह राजा बने चंद्रगुप्त के पास पहुँचा और नाटकीय निवेदन किया-"महाराज, मैं गरीब और अनाथ ब्राह्मण हूँ ।"

"हाँ, हाँ ! बोलो क्या चाहिए"-राजा बने चंद्रगुप्त ने कहा ।

"कुछ गायें मिल जाए तो बड़ी मेहरबानी हो"-उस ब्राह्मण ने कहा ।

"ले जाओ"-पास चर रही गायों की ओर इशारा करते हुए चंद्रगुप्त ने कहा-"जितनी चाहिए ले जाओ ।"

"इनका मालिक मुझे पकड़ कर मारेगा"-ब्राह्मण ने और भी रस लेते हुए कहा ।

"किसकी हिम्मत है जो सम्राट् चंद्रगुप्त की आज्ञाओं का उल्लंघन करे"-चंद्रगुप्त ने इस प्रकार उत्तर दिया जैसे सचमुच ही वह राजा हो और वह ब्राह्मण जो और कोई नहीं भारतीय नीति शास्त्र के पंडित चाणक्य थे, इस उत्तर से वे बड़े प्रभावित हुए । उन्होंने बालक चंद्रगुप्त को एक उदीयमान प्रतिभा के रूप में देखा और लगा कि उनकी खोज पूरी हो गयी है ।

उस समय चाणक्य किसी ऐसे युवक की तलाश में थे जिसे आगे कर वे भारत को एक राष्ट्र के रूप में संगठित कर सकें । उस समय भारतवर्ष अनेक छोटे-बड़े राज्यों में बिखरा हुआ था । जिनके अधिपति राजा-महाराजा वीर तो थे परंतु अपने संकीर्ण स्वार्थों और संकुचित हितों के लिए ही परस्पर लड़ते-मरते रहते थे ।

फूट और तज्जनित वैमनस्यता के कारण उन्हें अपने राष्ट्रीय हितों का भी ध्यान नहीं रहता था । उस समय भारत में चारों ओर धन संपदा बिखरी पड़ी थी । आपसी फूट और बिखराव से लाभ उठाकर विदेशी लुटेरे तथा सम्राट् यहाँ आ आकर अपना भंडार भर लेते थे । विदेशी आक्रमण-धन और जन ही नहीं यहाँ की संस्कृति को भी लूटने और तहस-नहस करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ते थे । यही कारण था कि चाणक्य को तक्षशिला का विद्यापीठ छोड़कर गाँव-गाँव भटकने के लिए विवश होना पड़ा ।

पंडितों और ब्राह्मणों का एक महत् कर्तव्य यह भी है कि वे संस्कृति और धर्म की रक्षा के लिए अपने पद, गौरव और ऐश्वर्य को भूलकर प्राणपण से प्रयत्न करे । चाणक्य इसी कर्तव्य बोध से तक्षशिला का प्रतिष्ठित आचार्य पद छोड़कर पहले मगध सम्राट् के पास पहुँचे थे । मगध उस समय भारत का सबसे बड़ा राज्य था । इस राज्य का राजा था नंद । चाणक्य ने नंद को सलाह दी कि वह बिखरे राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधकर संगठित करे । परंतु नंद को तो अपने विलास भोगों से ही फुरसत कहाँ थी । इसलिए उसने चाणक्य को अपमानित कर अपने यहाँ से भगा दिया ।

अब चाणक्य ने समझ लिया कि प्रस्तुत लक्ष्य किसी राजा या सम्राट् से पूरा नहीं होगा । उसके लिए तो एक नयी ही शक्ति का उदय होना चाहिए जो देशप्रेम, वीरता, संघ निष्ठा और एकता के आधार पर उदित हो । चाणक्य स्वयं तो संन्यासी और धर्माचार्य थे । स्वयं राजनीति में प्रत्यक्ष भाग लेना उन्हें मर्यादाओं के विरुद्ध लगा इसलिए अपने किसी निष्ठावान शिष्य को यह उत्तरदायित्व सौंपकर इस अभियान का सूत्र संचालन ही उपयुक्त लगा और वे इसलिए योग्य शिष्य की तलाश में इधर-उधर भटक रहे थे ।

चंद्रगुप्त में वह प्रतिभा देखकर उन्होंने शिकारी से संपर्क साधा और उसे अपने साथ ले जाने के लिए तैयार कर लिया । चाणक्य अपने नये शिष्य को

लेकर तक्षशिला पहुँचे और वहाँ शस्त्र तथा शास्त्र दोनों सिखाने लगे । शासक स्तर के व्यक्ति को बुद्धि और शक्ति दोनों ही विभूतियों से संपन्न होना चाहिए । चाणक्य ने अपने ग्रंथों में स्थान-स्थान पर यह विचार व्यक्त किया है । शासक ही क्या सामान्य व्यक्ति के लिए भी बुद्धि-बल और शरीर बल दोनों का महत्त्व अपेक्षणीय है । चंद्रगुप्त ने सात-आठ वर्ष तक अपने योग्य और विद्वान गुरु के पास रहकर दोनों विभूतियाँ अर्जित कीं ।

तक्षशिला में व्यतीत किया समय चंद्रगुप्त के भावी जीवन का आधार मजबूत करने और बनाने का कारण बना । चाणक्य ने अपने शिष्य को शस्त्र और शास्त्र में पारंगत बनाने के साथ-साथ उसके चरित्र गठन की ओर भी ध्यान दिया । चरित्र ही तो समस्त सफलताओं और सदुद्देश्यों को प्राप्त करने का मुख्य आधार है । इसके अभाव में बड़े-बड़े शक्तिशाली साम्राज्य और सम्राटों का नाश तथा पतन हुआ है । आदि काल से अब तक इस बात के कई उदारहण इतिहास में भरे पड़े हैं ।

व्यक्तिगत जीवन में भी चरित्र को उतना ही अनिवार्य तथा उपयोगी माना गया है । साधारण से साधारण व्यक्ति के लिए भी वह उतना ही उपयोगी है जितना कि उच्च प्रतिष्ठित और शासन तथा अधिकारियों के लिए क्योंकि चिरस्थायी शांति और अपने उत्तरदायित्व को समझने तथा उसे पूरा करने की क्षमता चरित्र साधना से ही तो उद्भूत होती है ।

तभी ई० पू० ३२६-२७ में भारत पर यूनान के सम्राट् सिकंदर ने आक्रमण किया । यहाँ के राज्यों की आपसी फूट का लाभ उसे मिला और समूचा पश्चिमी भारत गुलामी की जंजीरों में जकड़ दिया गया । उस समय चाणक्य चंद्रगुप्त को अपना स्वप्न साकार करने के लिए तैयार कर ही रहे थे । दूरदर्शी चाणक्य यह जानते थे कि आखिर भारत को वर्तमान परिस्थितियों और यहाँ के राजाओं की आपसी फूट के कारण एक न एक दिन अपनी स्वतंत्रता खोनी ही पड़ेगी ।

यह अनुमान सही निकला । चाणक्य इससे संतुष्ट हुए क्योंकि पूर्व की स्थिति में छोटे-छोटे राजाओं से लड़कर अपनी समय और शक्ति को व्यर्थ ही खर्च करना पड़ता । अब सिकंदर के आक्रमण से कई राज्यों का एकीकरण हो गया तो उन पर विजय प्राप्त करने तथा अपना स्वप्न साकार करने में बड़ी आसानी रहेगी । अब चाणक्य और चंद्रगुप्त आगे की योजनायें बनाने लगे । चाणक्य ने अपनी

कुशाग्र बुद्धि से विदेशियों को भारत से खदेड़ने की योजना बना ली । जिसके अनुसार एक बड़ी सेना का गठन किया जाना था । इधर सिकंदर की विजय ने सामान्य जनता का मनोबल तोड़कर रख दिया । सेना गठन के लिए इस मनोबल को पुन: जागृत करना आवश्यक था । गुरु और शिष्य मिलकर पंजाब भर में घूमे और वहाँ के लोगों को स्वतंत्रता तथा एक राष्ट्र की स्थापना के लिए प्रेरित करने लगे । कई लोगों ने उनका साथ दिया । युवा और उत्साही व्यक्ति चंद्रगुप्त और चाणक्य की योजना के अनुसार सेना बनाने के लिए आगे आये ।

सैन्य-संगठन का कार्य आरंभ होने भर की देर थी । चाणक्य और चंद्रगुप्त-एक संत ब्राह्मण और दूसरा गरीब अनाथ-दोनों की आवाज ने कमाल दिखाया । लोग उनके आह्वान पर अपने घरों से खाना खाकर भूखे रहकर राष्ट्र की स्थापना के लिए आगे आये और अंत तक उनके साथ रहे ।

इन युवकों को युद्ध विद्या का प्रशिक्षण दिया गया और एक अच्छी सेना तैयार हो गयी जिसका सेनापति बना चंद्रगुप्त । पंजाब की भूमि तो वैसे भी रणबांकुरे जवानों से भरी पड़ी थी । कमी थी तो योग्य नेतृत्व की । चंद्रगुप्त के रूप में अपना अगुआ नेता पाकर पंजाब के वीर जवानों ने यूनानियों को ललकारा और झेलम तथा व्यास नदी के आस-पास से विजय अभियान शुरू किया जो यूनानियों से घिरी हुई थी ।

मरने-मारने के लिए कटिबद्ध पंजाबी सैनिक और राष्ट्र निर्माण के लिए आहुत जीवन चंद्रगुप्त और चाणक्य इन सबकी सम्मिलित शक्ति से तीन वर्ष के भीतर-भीतर भारत भूमि यूनानियों से रहित हो गयी । विदेशी शासन का नामो-निशान मिट गया । विदेशियों को भारत भूमि से भगाकर चंद्रगुप्त का ध्यान अपने देश की अंदरूनी स्थिति पर दिया । अभी तो आधे से अधिक काम बाकी पड़ा था । बुद्धि-कौशल और निष्ठावान सहयोगियों के बल पर चंद्रगुप्त को विश्वास था कि यह काम पूरा होकर रहेगा । जिस विश्वास के बल पर चार वर्ष पूर्व गुरु शिष्य दोनों खाली हाथ घर के निकले थे । वह बुद्धि कौशल ही था जो उन परिस्थितियों में भी इतना बड़ा सैन्य संगठन तैयार हो गया और मंजिल की आधी दूरी तय कर ली ।

पश्चिमी भारत को सुरक्षित और कंटकहीन कर चंद्रगुप्त मगध की ओर मुड़ा । उस समय मगध के पास काफी बड़ी सेना थी । लगभग २ लाख २५ हजार

सैनिक मगध के राज्य की रक्षा का भार सम्हाले हुए थे । परंतु चाणक्य जानते थे कि मगध का राजा नंद वहाँ की जनता में बहुत अलोकप्रिय है । उसकी शासन व्यवस्था, चरित्रहीनता और घमंड से उसके स्वयं के परिजन, राजमहल के निवासी तक बड़े त्रस्त थे । इसलिए थोड़ी सूझबूझ से काम लिया जाये तो मगध को आसानी से जीता जा सकता है ।

चाणक्य ने सैन्य बल की अपेक्षा बुद्धि बल से काम लिया और नंद के कई अधिकारियों को अपने पक्ष में कर लिया । अंदर से इतना सशक्त विरोध नहीं होगा यह जानकर चंद्रगुप्त अपनी सेनायें लेकर मगध पर टूट पड़ा । यद्यपि नंद के कई अधिकारियों ने चंद्रगुप्त की मदद की फिर भी मगध को जीतने में दो वर्ष का समय लगा । ३२१ ई० पू० चंद्रगुप्त ने अपनी सेनाओं सहित मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में प्रवेश किया । नंद का शासन समाप्त हो गया था । राज्य सिंहासन पर चंद्रगुप्त को राजतिलक किया गया । इतनी बड़ी सफलता प्राप्त कर लेने के बाद भी चंद्रगुप्त में घमंड बिल्कुल ही नहीं आया । कहते हैं उसने अपने पालक-बचपन के अहीर पिता को ढुँढ़वाया और उसे पर्याप्त धन-दौलत दी ताकि वह सुख-चैन से जीवन बिता सके । कई अवसरों पर चाणक्य ने भी उसे फटकारा परंतु चंद्रगुप्त तो अभी सम्राट् कम और शिष्य अधिक था । सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य बन जाने के बाद उन्होंने अपने अभियान का अगला चरण पूरा करने के लिए कदम उठाया ।

पंजाब, मगध और व्यास नदी के तटवर्ती प्रदेश तो अधिकार में आ ही गए थे अब मध्य भारत, दक्षिणी प्रांत और पूर्वी भारत को एक सूत्र में आबद्ध किया और भारत की नींव रखी । उस समय रचे गए ऐतिहासिक ग्रंथों में चंद्रगुप्त मौर्य का उल्लेख संपूर्ण जंबूद्वीप के सम्राट् रूप में किया गया है । हिमालय से सागर तक और सिंधु से ब्रह्मपुत्र तक एक राष्ट्र भारत और उसका निर्माता था-एक अनाथ, मातृ-पितृ हीन बालक ।

सम्राट् चंद्रगुप्त ने इतने बड़े साम्राज्य का अधिपति होते हुए भी कभी इस विचार को प्रश्रय नहीं दिया कि मैं अतुल धन संपदा और राज्य लक्ष्मी का स्वामी हूँ । वह सदैव यही मानता रहा कि मैं प्रजा का सेवक मात्र हूँ, अपने मार्गदर्शक महामति चाणक्य का विनम्र अनुगामी भर हूँ । जो इतने बड़े राष्ट्र के गठन में प्रधान भूमिका निभाने तथा अतुल वैभव का उपभोग करने में समर्थ होते हुए भी शहर से

बाहर एक साधारण सी कुटिया में रहते हैं । सर्वोच्च शासन पद पर रहते हुए भी इतना निर्लिप्त और अनासक्त जीवन जीकर चंद्रगुप्त मौर्य ने भारतीय इतिहास में एक स्वर्ण अध्याय अपनी कर्म लेखनी से लिख डाला ।

यथा राजा तथा प्रजा के अनुसार चंद्रगुप्त के शासन काल में लोग भी उतने ही सदाचारी और एक दूसरे का ध्यान रखने वाले हो गये थे । फिर भी शासन की ओर से किसी प्रकार की लापरवाही नहीं बरती जाती थी । चाणक्य द्वारा लिखित अर्थशास्त्र, जो राज्य व्यवस्था का प्रमुख मार्गदर्शक ग्रंथ माना जाता है, के अनुसार तथा चाणक्य के परामर्श से सारा राज-काज चलता था । सैन्य-संगठन तथा सुरक्षा व्यवस्था इतनी सुदृढ़ बनायी गयी थी कि बाहर का कोई भी शत्रु राष्ट्र की सीमा को बेध नहीं सकता था । इतिहास में चंद्रगुप्त मौर्य के शासन काल में ही सिल्यूकस सिकंदर के आक्रमण का उल्लेख भी आता है परंतु उसे पराजित होकर ही जाना पड़ा । लगभग २४ वर्षों तक राज्य कर २९७ ई० पू० चंद्रगुप्त का देहांत हो गया ।

देशभक्त पुरु
जो सिकंदर के आगे झुका नहीं

भारतीय इतिहास में महाराज पुरु का बहुत सम्मान पूर्ण स्थान है । महाराज पुरु के सम्मान का कारण उनकी कोई दिग्विजय नहीं है । इतिहास में केवल एक यही ऐसा वीर पुरुष है, जिसने पराजित होने पर भी विजयी को पीछे हटने पर विवश कर दिया ।

ईसा के पूर्व छठी शताब्दी में यूनान के सम्राट् सिकंदर ने सिंहासनरूढ़ होते ही विश्व-विजय करने का विचार बनाया । यद्यपि सिकंदर के पास अपना देश था और उसके लिए आवश्यक न था कि वह किसी दूसरे देश पर आक्रमण करके उसे जीते, तथापि उसने अहंकार और लोभ के वशीभूत होकर विश्व-विजय की ठान ही ली ।

सिकंदर ने प्रस्थान किया । नया उत्साह, नये साधन, महा विजेता एक विशाल वाहिनी लेकर चला, तो देश के देश उसे आत्म-समर्पण करने लगे । बिना

लड़े अथवा थोड़ा लड़कर उसने यूनान से भारतीय सीमांत तक के सारे देश आन की आन में जीत लिए ।

न जाने पराजित देशों के निवासी किस मिट्टी के बने थे कि दुश्मन से दो हाथ किए बिना ही अधीन बन गये । कर्तव्य तो उनका यह था कि जब उनके देश का एक-एक बच्चा कट-मर जाता, तब कहीं सिकंदर की सेना उस श्मसान से आगे बढ़ पाती, किंतु क्या कहा जाय, उन विचित्रों की मानसिक दुर्बलताओं को, जो वे भविष्य पर विचार किए बिना विलास और आलस्य की मृत्युदायिनी गोद में पड़े पलते रहे ।

बिना किसी प्रयास के अनायास ही देश पर देश जीत लेने से सिकंदर के अहंकार का घट लवालव भर गया और उसे अपने विश्व-विजेता होने का भ्रामक स्वप्न उज्ज्वल से उज्ज्वलतर दिखाई देने लगा । वह आँधी की तरह बढ़ता आया और भारतीय सरहद पर अपना पड़ाव डाल दिया ।

अपने जय अभियान के लिए यह महान यूनानी जितना लश्कर लेकर चला था, अब इस समय उसके पास उससे कहीं अधिक सेना हो गई थी । कारण स्पष्ट है कि जिन-जिन देशों को वह पराजित करता आया अथवा जिन-जिन देशों ने उसे आत्म-समर्पण किया, उनकी सेनाओं तथा साधनों को भी सिकंदर ने अपने लश्कर में शामिल कर लिया था । इस समय उसे अपनी शक्ति के अभिमान का भरपूर नशा था ।

भारतीय सीमांत के समीप आते-आते सिकंदर को सिंध और झेलम के पानी से पैनी की गई तलवारों के जौहर आने-जाने वालों से सुनने को मिले थे । किंतु सिकंदर ने उन सत्य समाचारों को लोक-चर्चा से अधिक महत्व नहीं दिया । सिकंदर बढ़ता रहा और भारतीय वीरता के समाचार भी । किन्तु जब उस देशजयी को भारत की वीर गाथायें दोस्त और दुश्मन दोनों के मुँह से एक जैसी ही सुनने को मिलीं, तब उसके विजय-विश्वास में दरार पड़े बिना न रह सकीं और उसे आक्रमण करने से पूर्व विचार करने पर मजबूर होना पड़ा ।

सिकंदर ने भारत की आंतरिक दशा का पता लगाने के लिए भेदिए भेजे, जिन्होंने आकर समाचार दिया कि इसमें कोई संदेह नहीं कि वीरता भारतीयों को बपौती है, किंतु उनकी इस सारी विशेषताओं को एक नागिन घेरे हुए है, जिसे 'फूट'

कहते हैं । इसी फूट रूपी नागिन के विष से भारतीयों की बुद्धि मूर्च्छित हो चुकी है, जिससे उनकी अनुशासनहीन शूरता और दंभपूर्ण स्वाभिमान अभिशाप बन चुका है । यदि सिकंदर भारत में प्रवेश चाहता है, तो उसे तलवार की अपेक्षा भारतीयों में फैली फूट की विष बेल से लाभ उठाना होगा ।

साहस के पीछे हटते ही सिकंदर की भेद-नीति आगे बढ़ी । उसने और भी गहराई से पता लगाया कि इस समय भारत किसी एक छत्र सत्ता से अनुशासित नहीं है । अकेले पश्चिमोत्तर सीमांत, सिंध और पंजाब में ही सैकड़ों छोटे-छोटे राज्य हैं, जो सदियों से आपस में लड़ते-लड़ते जर्जर हो चुके हैं । इन प्रदेशों के सारे राजे एक दूसरे के प्राणांत शत्रु बने हुए हैं और एक दूसरे को हर मूल्य पर नीचा दिखाने के लिए कोई भी उपाय एवं अवसर का उपयोग करने को उद्यत बैठे हैं । भारत के सिंहद्वार के प्रहरी राजाओं के बीच शत्रुतापूर्ण अनैक्य के इन समाचारों ने सिकंदर के साहस को फिर बढ़ावा दिया और उसने अपना काम शुरू कर दिया ।

राजनीति के चतुर खिलाड़ी सिकंदर ने शीघ्र ही उस तक्षक का पता लगा लिया, जो प्रोत्साहन पाकर भारत की स्वतंत्रता पर फन मार सकता है और वह था- तक्षशिला नरेश दंभी आम्भीक, जो अपने अकारण उपद्रव के कारण 'महाराज पौरुष' से बराबर हारकर विद्वेष विष से अंधा बन चुका था ।

आम्भीक पुरु से लड़ने के लिए फिर सेना तैयार करने में जुटा हुआ था, जिसके लिए त्राहि त्राहि करती हुई प्रजा से बुरी तरह धन शोषण कर रहा था । सिकंदर ने अवसर का लाभ उठाया और लगभग पचास लाख रुपये की भेंट के साथ संदेश भेजा-यदि महाराज आम्भीक सिकंदर की मित्रता स्वीकार करें तो वह उन्हें पुरु को जीतने में मदद ही नहीं देगा, बल्कि पूरे भारत में उसकी दुंदुभी बजवा देगा । सिकंदर द्वारा भेजी हुई भेंट के साथ सम्मानपूर्ण संदेश पाकर द्वेषांध अम्भीक के होश हर्ष से बेहोश हो गए और वह देश के साथ विश्वासघात करके सिकंदर का स्वागत करने को तैयार हो गया । भारत के गौरवपूर्ण चंद-बिंब में एक कलंक बिंदु लग गया ।

आम्भीक का निमंत्रण पाकर सिकंदर ने भारत पर आक्रमण किया । किन्तु भारत का भाग्य केवल आम्भीक पर ही तो निर्भर न था । जहाँ आम्भीक जैसे

देशद्रोही थे, वहाँ अनेक देशभक्त राजा भी थे । उन्होंने सिकंदर का प्रतिरोध भी किया, किन्तु अलग-अलग अकेले, जिसके फलस्वरूप वे मिटते चले गए । जहाँ इन राजाओं में देशभक्ति की भावनाएं थीं, वहाँ एकता की बुद्धि का अभाव था । सिकंदर के विरोधी होने पर भी वे अपने आपसी विरोध को न भुला सके । किसी एक राष्ट्र के कर्णधारों में परस्पर प्रेम रहने से ही कल्याण की संभावनायें सुरक्षित रहा करती हैं, फिर भी यदि उनमें किसी कारण से मनोमालिन्य रहेगा, तब भी किसी संक्रामक समय में उन्हें आपसी भेदभाव मिटाकर एक संगठित शक्ति से ही संकट का सामना करना श्रेयस्कर होता है । अन्यथा आया हुआ संकट अलग-अलग सबको नष्ट कर देता है, यही बात सिकंदर के साथ लड़ाई में राजाओं के साथ हुई ।

इधर सिकंदर विजयी हो रहा था और उधर दुष्ट आम्भीक की दुरभिसंधि से अनेक अन्य राजा देशद्रोही बनते जा रहे थे । काबुल का कोफ्रायस, पुष्कलावती का संजय, शशिगुप्त तथा अश्वजित आदि अनेक अभागे राजा सिकंदर की सहायता करते हुए उसकी विजयों में अपना भाग देखने लगे थे । जिसके फलस्वरूप पुरु को छोड़कर लगभग सारे राजा या तो हारकर मिट चुके थे अथवा देशद्रोह करके सिकंदर के झंडे के नीचे आ चुके थे ।

अब भारत के प्रवेश द्वार पर, एकमात्र प्रहरी के रूप में केवल महाराज पुरु रह गए । अब प्रश्न यह उठता है कि महाराज पुरु महान देशभक्त होने पर भी अब तक के सिकंदरी युद्ध में तटस्थ रहकर लड़ाई क्यों देखते रहे ? क्यों नहीं उन्होंने स्वतः ही नेतृत्व करके सारे राजाओं को संगठित करके सिकंदर का प्रतिरोध किया ? महाराज पुरु ने प्रयत्न किया, किन्तु हीन राजमद के रोगी राजा पुरु की योजना में शामिल न हुए । कुछ तो स्वार्थ के वशीभूत होकर सिकंदर से मिल गए और कुछ ने पोरस का नेतृत्व स्वीकार करने की अपेक्षा सिकंदर से पृथक ही लड़कर मर जाना अच्छा समझा, ताकि श्रेय पुरु को न मिलकर उन्हें ही मिले । मनुष्य की यह संकीर्ण स्वार्थपरता सामूहिक जीवन के लिए सदा ही विघातक रही हैं ।

सिकंदर कपिशा से तक्षशिला तक के बीच की अनेक स्वतंत्र जातियों की कटीली झाड़ियों से लुहूलुहान होता हुआ तक्षशिला पहुँचा, जहाँ आम्भीक ने उसका

बड़ा विशाल स्वागत किया । अभी तक सिकंदर कपिशा के आसपास ही रहा । अभिसार देश का महाराज पुरु का मित्र बना रहा । पर ज्यों ही सिकंदर तक्षशिला पहुँचा अभिसार नरेश को भीरुता का दौरा पड़ गया । कहना न होगा, जब कोई पापी किसी मर्यादा की रेखा उल्लंघन कर उदाहरण बन जाता है, तब अनेक को उसका उल्लंघन करने में अधिक संकोच नहीं रहता । तक्षशिला के राजा आम्भीक की देखादेखी अभिसार नरेश भी सिकंदर से जा मिला, जिससे पोरस को बिल्कुल अकेला रह जाना पड़ा ।

अभिसार नरेश से पोरस के साहस, वीरता तथा गौरवपूर्ण देशभक्ति के विषय में जानकर सिकंदर ने पुरु को इस आशय का संदेश भेजा कि यदि वह सिकंदर को बिना विरोध के आगे बढ़ जाने दे तो वह उसे अपना मित्र मानकर सुरक्षित छोड़ देगा ।

सिकंदर का यह मैत्री संदेश स्वाभिमानी पुरु के लिए युद्ध की खुली चुनौती थी । उसने सिकंदर को पंजाब में झेलम के किनारे ललकारा । घमासान युद्ध की संभावना से दोनों की सेनायें नदी के आर पार डट गईं । झेलम के पूर्वी किनारे पर महाराज पुरु की थोड़ी सी सेना और उसके पश्चिमी तट पर देशद्रोही राजाओं की कुमुक के साथ सिकंदर का टिड्डी दल ।

बरसात के दिन थे, झेलम बाढ़ पर थी, सिकंदर का साहस नदी पार करने को न पड़ा । लगभग एक सप्ताह बाद एक दिन जब घनघोर बर्षा हो रही थी और पुरु की सेना बराबर पड़ी हुई थी झेलम से लगभग आठ मील उत्तर में बढ़कर सिकंदर की सेना ने नदी पार करके पुरु की सेना पर आक्रमण कर दिया । सिकंदर के टिड्डी दल ने यद्यपि पुरु की थोड़ी सी सेना पर धोखे से आक्रमण किया था, तथापि पुरु के वीर सैनिकों की तलवारों ने उस अंधेरी में बिजली की तरह कौंध कर उसे पीछे हटा दिया ।

इस आकस्मिक युद्ध में चार सैनिकों के साथ पुरु का पुत्र मारा गया, किन्तु खेत पुरु के हाथ ही रहा । सिकंदर ने पीछे हटकर फिर सेना बढ़ाई और इधर पुरु ने बेटे का शोक किए बिना ही ब्यूह रचना कर दी । हाथियों को आगे रखकर की गई ब्यूह रचना के कारण महाराज पुरु की सीमित सेना भी सिकंदर की सेना को अजेय दुधर्ष दिखाई देने लगी । सिकंदर के बार-बार प्रेरणा एवं प्रोत्साहन देने से वह बढ़ी

और टक्कर होते ही भाग खड़ी हुई । वह क्षण निकट ही था कि महाराज पुरु की विजय हो कि तब तक एक भारी विस्फोट होने से पुरु की सेना के हाथी भड़क गए और वे अपने सैनिकों को ही कुचलते हुए पीछे की ओर भाग खड़े हुए । पुरु का अजेय ब्यूह अपने ही साधनों से नष्ट हो गया । सारी सेना तितर-बितर हो गई । अब क्या था ? सिकंदर ने अवसर से लाभ उठाया और संपूर्ण शक्ति के साथ पुरु की अस्त-व्यस्त सेना पर धावा बोल दिया । शत्रु की ओर से असावधान, अपनी सेना की संभाल करते हुए पुरु शत्रुओं के तीरों से घायल होकर गिर पड़े ।

अचेतनावस्था में गिरफ्तारी के बाद जब महाराज पुरु को होश आया, तब वे सिकंदर के सामने थे । सिकंदर ने हँसते हुए बड़े गर्व के साथ कहा-"पोरस ! बतलाओ कि अब तुम्हारे साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय ?"

सिकंदर को विश्वास था कि इस समय असहाय होने पर पुरु गिड़गिड़ाकर यही कहेगा कि अब तो मैं आपका बंदी हूँ, जिस प्रकार का व्यवहार चाहिए, करिये और सिकंदर उसे प्राणदान देकर आभार स्वरूप भारत-विजय करने में उसकी वीरता एवं रण-कुशलता का मन माना उपयोग करेगा, किन्तु उसका उत्तर सुनकर वह विश्व-विजय का स्वप्नदर्शी ग्रीक आकाश से जमीन पर गिर पड़ा ।

महाराज पुरु ने स्वाभिमान पूर्वक सिर ऊँचा करके उत्तर दिया-"सिकंदर, वह व्यवहार जो एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है ।"

सिकंदर निर्भीक पुरु का यह वीरोचित उत्तर सुनकर इतना प्रसन्न एवं प्रभावित हुआ कि उठकर उसके गले से लग गया ।

भारतीयों की वीरता और महाराज पुरु की विकट मार से सिकंदर की सेना की हिम्मत हवा हो चुकी थी । सिकंदर अच्छी तरह जानता था कि यदि वह आगे बढ़ने का आदेश देगा तो उसकी भयभीत सेना अवश्य विद्रोह कर देगी, इसलिए वह महाराज पुरु पर ऐहसान रखता हुआ चुपचाप भारतीय सीमाओं से बाहर चला गया ।

सम्राट् समुद्रगुप्त
साम्राज्य जिनके लिए साधन था साध्य नहीं

सन् ३३५ के आस-पास मगध के सिहांसन पर चंद्रगुप्त प्रथम का पुत्र समुद्रगुप्त बैठा तो उसने बिखरे भारत को पुनः एक सुदृढ़ साम्राज्य के रूप में गठित करने का प्रयास आरंभ कर दिया । शुंग वंश के पतन के बाद आर्यावर्त में कोई सुदृढ़ साम्राज्य नहीं बचा था जो विदेशी आक्रमणों से इस देश और इसकी महान संस्कृति की रक्षा कर सके । जिसकी उस समय बहुत अधिक आवश्यकता थी ।

समुद्रगुप्त जानता था कि भारतवर्ष की समृद्धि की चर्चाएँ सुन-सुन कर विदेशियों के मुँह में पानी भर आता था । किन्तु अभी तक किसी की दाल यहाँ गल नहीं सकी थी । सिकंदर के पूर्व ईरान के बादशाह दारा ने भारत विजय का सपना देखा था वह साकार नहीं हो सका । सिकंदर को भी पंच नद प्रदेश से ही वापस लौट जाना पड़ा था । उसके सेना पति सेल्यूकस को सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य से हार कर अपमानजनक संधि करनी पड़ी थी । उसी प्रकार यूनानी आक्रमणकारी डेमेट्रियस और मिएंडर को भी पुष्यमित्र शुंग ने आर्यावर्त की सीमा को बाहर खदेड़ दिया था । यह सब संभव हुआ था एक सुदृढ़ सुगठित साम्राज्य के द्वारा ।

समुद्रगुप्त ने इसी उद्देश्य से विजय अभियान चलाया कि वह बिखरे हुए देश को पुनः एक सूत्र में बाँध सके । इसमें उसकी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा नहीं थी वरन् उस समय को देखते हुए किसी भी विवेकशील और समर्थ व्यक्ति के लिए यह कार्य एक युग धर्म था और साम्राज्य अपने आप में कोई बुरी चीज नहीं होती । यह तो एक व्यवस्था है । अशोक के हाथ में इस व्यवस्था का सूत्र आया तो उसने कितना काम कर दिखाया । समुद्रगुप्त का भी ऐसा ही उद्देश्य था देश और संस्कृति की रक्षा के अपने पुरुषार्थ का सदुपयोग करते हुए एक सुदृढ़ विशाल और न्याय परक साम्राज्य व्यवस्था का गठन करना ।

गुप्त साम्राज्य की स्थापना उसके पिता चंद्रगुप्त ने की थी पर उसे विस्तार दिया था समुद्रगुप्त ने । समुद्रगुप्त को भारत का 'नेपोलियन' भी कहा जाता है अपने इस महान उद्योग के कारण । उसने कई छोटे-छोटे राज्यों पर अधिकार करके मगध के साम्राज्य का विस्तार सारे भारत में किया । इससे उसकी वीरता और युद्ध कौशल

का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है ।

बाल्यकाल में ही उसमें नेतृत्व और प्रबंध कौशल के गुण विकसित होने लगे थे । अत: उसके पिता ने सबसे छोटा होने पर भी उसे ही युवराज मनोनीत किया । अपने पिता की मृत्यु होने पर जब उसके हाथ में सत्ता आयी तो उसने दिग्विजय के लिए प्रयाण कर दिया । नौ उत्तर भारत के और अठारह वन्य राज्यों पर मगध का प्रभुत्व स्थापित करने के बाद उसने दक्षिण के बारह राज्यों को जीता ।

समुद्रगुप्त किसी भी राजा को हरा कर उसका राज्य नहीं छीनता था वरन् उसे अपना करद राज्य बना लिया करता था । अधिपति वही राजा रहता था । पराजित होने पर भी वह उनके साथ समानता का व्यवहार करता था और अपने उस उद्देश्य को स्पष्ट रूप से समझा देता था जिसके कारण उसे यह कटु दायित्व निर्वाह करना पड़ रहा था । अपनी इस उदार नीति के कारण वह पराजित राजाओं का हृदय भी जीत लिया करता था । दक्षिण के सभी राज्य उसके करद राज्य थे ।

दिग्विजय करने के पश्चात उसने अश्वमेध यज्ञ करके भारतीय सभ्यता और संस्कृति के नियमों में बँधा रहकर शासन सम्हालने की शपथ ग्रहण की । संघर्ष के बाद सृजन और शांति के सद्प्रयासों का शुभारंभ भी इस यज्ञ के पश्चात आरंभ हो गया था । यज्ञ के अवसर पर लोक सेवा में रत समाज सेवियों को, गरीबों और असहायों को सम्राट समुद्रगुप्त ने मुक्त हस्त दान दिया ।

समुद्रगुप्त की दिग्विजय कोई व्यक्ति गत महत्वाकांक्षा से प्रेरित सनक नहीं थी । उसका उद्देश्य था नागरिकों को सुरक्षा और सुशासन देना, धर्म, संस्कृति साहित्य और कला की उन्नति करना । समुद्रगुप्त स्वयं कला प्रेमी था । वह वीणा वादन का सिद्ध हस्त कलाकार माना जाता था अपने समय में । उसकी सभा में साहित्यकारों और कलाकारों को अपूर्व सम्मान दिया जाता था ।

गुप्त काल हमारी सभ्यता और संस्कृति का स्वर्ण काल कहा जाता है । इसका कारण गुप्त वंशीय सम्राटों की वह उच्च और सर्वजन हितकारी नीति थी जिसकी परम्परा सम्राट समुद्रगुप्त ने डाली थी । उस समय धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक सभी पक्षों में आदर्श प्रगति हुई । उसका बहुत कुछ श्रेय उन राजाओं को दिया जा सकता है ।

व्यक्ति का क्रिया-कलाप उसके साथ जुड़े हुए उद्देश्य से ही भला-बुरा

ठहराया जा सकता है । यों तो राजा कई हुए हैं, कई वंशों की सल्तनतें रही हैं पर जो नैतिक और सामाजिक आदर्श व्यवस्था गुप्त काल में थी वह स्पृहणीय थी । कहना न होगा कि राजा भी धर्म परायणी, नीतिवादी, उदारशील और संस्कारवान होते थे । प्रजा भी उनका अनुकरण करके वैसी ही बनती थी । इसी कारण यह कहावत आज तक प्रचलित है-यथा राजा तथा प्रजा ।

समुद्रगुप्त स्वयं वैदिक मत के मानने वाले थे पर धार्मिक संकीर्णता का लेश मात्र अंश भी उनके हृदय में नहीं था । वे सभी धर्मों का आदर करते थे । उन्होंने गया के बौद्धों के लिए बिहार बनवाया था । वसुबंधु नामक बौद्ध विद्वान को उनकी तरफ से राज्याश्रय मिला हुआ था । राज्य और राजा की तरफ से किसी भी धर्मावलंबी के साथ भेदभाव नहीं बरता जाता था । यह उनकी उदारता का ही परिचायक था ।

महान विजेता और सेना नायक के रूप में तो वे प्रसिद्ध हैं ही उससे भी अधिक वे सुराज्य संस्थापक थे । विजय यात्रा और सैन्य संचालन कौशल तो उनके लिए साधन मात्र था, साध्य था एक ऐसे शासन की स्थापना करना जहाँ सभी को आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त हो सके और वे अपने इस उद्देश्य को पूर्ण करने में सफल हुए थे । चालीस वर्ष तक उन्होंने मगध के विशाल साम्राज्य का सूत्र संचालन धर्म और नीति से किया । यह उनकी महानता ही मानी जायगी । प्रभुता का नशा व्यक्ति को पथ भ्रष्ट करने से चूकता नहीं है । पर वे इस नशे के प्रभाव में आये ही नहीं वे स्वयं को प्रजा का, देश का एक सेवक भर समझते रहे ।

आज जब सुनते हैं कि उस समय लोग अपने घरों में ताले नहीं लगाया करते थे, चोरी की वारदातें नहीं के बराबर होती थी । धार्मिक विद्वेष कहीं देखने को नहीं मिलता था । लोग अभक्ष्य भक्षण से अत्यधिक सावधान रहते थे । उस समय के लोग कितने सामाजिक थे इसका परिचय इसी बात से लग जाता है कि उस समय कोई भी प्याज और लहसुन भी व्यवहार में नहीं लाता था । इस प्रकार के गंधयुक्त पदार्थ कोई अपने घर में पकाए और उसकी गंध से दूसरों को असुविधा हो इसलिए कोई भी इनका प्रयोग नहीं करता था । माँस भक्षण सर्वथा त्याज्य समझा जाता था । यह सम्राट समुद्रगुप्त के काल में हुए सांस्कृतिक व नैतिक अभ्युदय का ही सुपरिणाम था ।

सम्राट समुद्रगुप्त ने विदेशी सम्राटों से दौत्य संबंध स्थापित करके अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शांति व सह अस्तित्व स्थापित करने का प्रयास किया था । ३७५ ई० में इस महान विजेता, सेना नायक और सुशासक की मृत्यु हुई । एक तंत्र में भी यदि शासक उच्च दृष्टि रखे तो समाज कितना लाभान्वित होता है । लोकतंत्र में भी वैसी ही दृष्टि में रखी जाय तो जाने क्या हो जाय ।

राष्ट्र रक्षार्थ सम्राट् यशोधर्मा का प्रबल पुरुषार्थ

भारत के विगत पंद्रह सौ वर्षों के इतिहास का एक मुख्य अंश विदेशियों के आक्रमण और भारतीयों द्वारा उनके समर्थ प्रतिरोध का इतिहास रहा है । यूनानियों के पश्चात और अंग्रेजों से पूर्व जितनी भी जातियाँ भारत पर चढ़ कर आयीं वे असभ्य, असंस्कृत और बर्बर थीं । यों स्वार्थपरता और हृदयहीनता में तो यूनानी व अंग्रेज भी कम नहीं थे पर उन्हें असभ्य नहीं कहा जा सकता । गुप्त काल के अंतिम यशस्वी सम्राट स्कंद गुप्त के समय में जिस बर्बर जाति ने भारत पर आक्रमण किया वह जाति बर्बरता में सर्वाधिक कुख्यात है । इस जाति का नाम था हूण ।

मध्य एशिया से आने वाली यह बर्बर जाति एशिया के अनेकानेक देशों को टिड्डी दल की तरह चाटती हुई भारतवर्ष तक आ पहुँची थीं । यह शकों व कुषाणों से भी अधिक भयंकर थी । लाखों की संख्या में दल के दल हूण एशिया को रोंदते हुए चले आ रहे थे । एशिया ही नहीं इन्होंने यूरोप को भी रोंदा था । मध्य एशिया से इन लोगों ने दो दिशाओं में गमन किया था एक भारत की ओर तथा दूसरे यूरोप की ओर ।

भारत में इस जाति को अपने पांव जमाने में सफलता नहीं मिल सकी । उन्हें उल्टे पांव भागना पड़ा अथवा बर्बरता त्यागकर सांस्कृतिक जीवन अपनाना पड़ा । सारे एशिया को रोंदने वाली इस बर्बर जाति को भारत से भगाने का श्रेय जिन दो पराक्रमी सम्राटों को है वे हैं सम्राट स्कंदगुप्त और यशोधर्मा ।

सम्राट स्कंदगुप्त ने इस जाति की पहली बाढ़ को कुम्भा नदी के तीर पर ही रोक दिया । वर्षों तक वे वहीं अपनी सेना के साथ चट्टान की तरह अड़े रहै । हूणों को पराजित होकर भागना पड़ा ।

कुछ समय बाद खिंखिल के नेतृत्व में ये लोग फिर आये । अब की बार भी रोक दिया । एक दो महीने नहीं पूरे सोलह वर्ष तक सम्राट स्कंदगुप्त अपनी सेना के साथ वहाँ डटे रहे । उनके जीते जी एक भी हूण भारत भूमि पर पांव नहीं रख सका । सोलह वर्ष तक सम्राट एक सामान्य सिपाही की तरह धरती पर सोते रहे । उन्हीं का सा साधारण भोजन करते रहे । ऐसा उदाहरण विश्व के इतिहास में अन्यत्र नहीं मिल सकेगा ।

हूण टिड्डी दल की तरह दल बाँध कर लाखों की संख्या में आते थे । लूटपाट, हत्या, मद्य, माँस भक्षण उनका स्वभाव था । पशुवत ही था उनका यह जीवन । हमारे देश का नाम सर्व प्रथम आर्यावर्त था । आर्य का अर्थ होता है श्रेष्ठ और सुसंस्कृत मनुष्य । हूण पूर्ण रूपेण अनार्य थे । आर्य देश पर चढ़ कर आने वाले इन अनार्यों को सम्राट स्कंदगुप्त के मरते ही भारत में घुस पड़ने का मार्ग मिल गया क्योंकि पीछे से मगध का साम्राज्य उन जैसे सुयोग्य शासक के हाथ में नहीं रहा ।

वे लूटमार, अत्याचार, अनाचार, करते हुए आगे बढ़ते गए । तक्षशिला विश्वविद्यालय के विशाल पुस्तकालय को उन्होंने जलाकर खाक कर डाला । वे जंगली क्या समझते थे कि विद्या क्या है ? ज्ञान क्या होता है ? उनको इस बर्बरता को रोकने की सामर्थ्य तत्कालीन मगध सम्राट में नहीं थी । भारतीय वीर रक्त का घूँट पीकर रह गए, पर क्या करते कोई नेता उठकर खड़ा नहीं हो रहा था । फिर भी एक वीर उठकर खड़ा हुआ । वसुंधरा भला कभी वीरों से खाली रही है । इस वीर का नाम था यशोधर्मा । "यथा नाम स्तथा गुण:" की उक्ति को सार्थक करने वाला ।

मालव प्रदेश के एक छोटे से प्रदेश के अधिपति यशोधर्मा से यह देखा न गया कि उस देश में जहाँ कोई किसी की वस्तु की चोरी करना तो दूर छूना तक पाप मानता है, जहाँ घरों में ताले नहीं लगाये जाते, अपराध नाम मात्र को होते हैं, बर्बर और असभ्य हूण मनमाना अत्याचार करते रहे, हमारे देव मंदिरों और जनता को लूटते रहे, मातृशक्ति को अपमानित करते रहे तो यह जीवन फिर किस दिन काम आयेगा ?

यशोधर्मा ने छोटे-छोटे राजाओं, जो मगध सम्राट को कमजोर देख स्वतंत्र हो गए थे, से अनुरोध किया कि वे हूणों को भारत भूमि से बाहर खदेड़ने में उसकी सहायता करें । नेता के उठ खड़े होते ही सहायक तो अपने आप जुटने लगे । देखते ही देखते एक विशाल सेना खड़ी हो गयी । यशोधर्मा छोटे से प्रदेश का अधिपति होते हुए भी भावनाओं और विचारों से महान था । उसकी अपनी कोई व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा इस संगठन के पीछे नहीं थी फिर ऐसे व्यक्ति को सहायक क्यों न मिलते ।

भारतीय राजाओं की इस संगठित वाहिनी का नेतृत्व यशोधर्मा को सौंपा गया । इस वीर ने हूण नेता मिहिर कुल को पराजित कर उसे इस स्वर्ण भूमि से बाहर करने की प्रतिज्ञा की । सिंहों की इस संगठित सेना ने हूणों को जा घेरा ।

दशपुर (वर्तमान मंदसौर) नामक स्थान पर घमासान युद्ध हुआ । भारतीय वीर जो अब तक असंगठित होने के कारण हूणों की नृशंस विनाश लीला देख रहे थे अब उसका गिन-गिन कर बदला चुकाने लगे थे । इन काल बने वीरवेश धारी भारतीयों की असि धारा की चमक के आगे हूणों के भाले फीके पड़ गए । देखते ही देखते उनका नेता मिहिर कुल बंदी बना लिया गया । उसकी बंदर सेना भाग खड़ी हुई । वह यशोधर्मा के पांवों में गिर कर प्राणों की भीख माँगने लगा । मगध के बौद्ध सम्राट को दया आ गयी । उसने यशोधर्मा से उसे प्राण दान देने का अनुरोध किया । मिहिर कुल को प्राण दान मिला पर बिना शर्त के नहीं । वह शर्त थी भारतीय प्रदेश खाली करके जाने की ।

मिहिर कुल को तब तक बंदी रखा गया जब तक हूण लोग भारत की सीमा से बाहर नहीं निकल जाते । मिहिरकुल ने अपने सरदारों को हूणों को भारत भारतवर्ष से बाहर निकल जाने के लिए प्रेरित करने भेजा । हूण पहले ही दशपुर के समरांगण में भारतीय वीरों और उनके नेता यशोधर्मा का महाकाल रूप देख चुके थे । अब उनका यहाँ टिक पाना संभव नहीं था । अतः उन्होंने अपनी राह लेना ही उचित समझा ।

हूणों को पराजित करने के कारण यशोधर्मा की यश पताका सारे देश में फहराने लगी । उज्जैन में उनका भव्य स्वागत किया गया । भारतीय राजाओं ने उन्हें अपना सम्राट मानकर उन्हें सम्राट विक्रमादित्य के सिंहासन पर आसीन किया वे उनके

मांडलिक बने । सम्राट पद पाने के बाद भी वे उसके मोह से रहित ही रहे । एक बार फिर उन्होंने अपनी सेना सजाई और हूणों को मारकर भारत से बाहर निकाला । मिहिर कुल को उन्होंने ठेठ सिंधु के तट पर जाकर छोड़ा ।

पराजित हूण नेता की गर्दन नीची झुक गयी । इस बर्बर जाति को इस देश में अपनी बर्बरता दिखाने का अवसर नहीं मिला । वे यहाँ से उल्टे पांव ऐसे भागे कि फिर इधर मुड़कर देखने का प्रयास नहीं किया । वीरवर सम्राट यशोधर्मा का यह यशस्वी कार्य उन्हें प्रात: स्मरणीय बना गया । अपने पुरुषार्थ पराक्रम और शक्ति का व्यक्तित्व परिधि से बाहर निकल कर सर्वहित के लिए समर्पण करना व्यक्ति को इतिहास पुरुष बनाने में समर्थ होता है । देश प्रेम, स्वतंत्रता की रक्षा, संस्कृति और धर्म के क्षरण को रोकने के लिए जिन जिन महापुरुषों ने भी बलिदान किए हैं वे भले ही स्थूल जीवन का आनंद अधिक समय तक तो न ले सके पर काल पर विजय प्राप्त कर महामानव बनने का श्रेय उन्हें ही प्राप्त होता रहा है ।

शौर्य साहस का धनी
पुष्य मित्र शुंग

ब्राह्मण पुष्य मित्र ने सुना-"दिमित्र यवन अपनी विशाल वाहिनी लेकर पाटलिपुत्र की ओर चल पड़ा है । उसे यहाँ पहुँचने में एक सप्ताह से अधिक न लगेगा । दिमित्र सिकंदर के अधूरे सपने को पूरा करने आ रहा है और इधर पाटलिपुत्र को अरक्षित छोड़कर मौर्य सम्राट वृहद्रथ अपनी जान बचाकर भागने की चिंता में हैं ।"

पुष्य मित्र में आगे सुनने की हिम्मत न थी इतना ही उसके सोये क्षात्र धर्म को जगाने के लिए पर्याप्त था । उसने ब्राह्मण होते हुए भी आपात्कालीन धर्म के रूप में क्षत्रिय धर्म स्वीकार करने का निश्चय किया । उसे यह स्वीकार न था कि यवन उसके देव मंदिरों को भ्रष्ट करें तथा मातृभूमि को अपने घोड़ों की टापों तले रोंदे और वह घर में बैठा हुआ अग्निहोत्र ही करता रहे ।

उसने भूतपूर्व महामात्य शंकु से विचार-विमर्श किया । महामात्य ने स्वीकार

किया-"अब मौर्य साम्राज्य पतनोन्मुख हो चला है । सम्राट अशोक के बाद उनके पुत्रों ने विशाल साम्राज्य के चार भाग करके बाँट लिए मैंने उस समय विरोध किया था तभी मुझे महामात्य पद से हटना पड़ा था । अब न तो उतनी सेना ही राज्य को पास है और न योग्य सेनापति ही है ।"

पुष्य मित्र ने कहा-"यह आप जो कह रहे हैं ठीक है पर क्या हम अपनी आँखों के सामने इसे पद दलित होते देख सकेंगे । अभी तो समय है, कुछ कर भी सकते हैं । इसीलिए मैंने आपत्कालीन धर्म के रूप में खड्ग पकड़ ली है । हमें मिलकर कुछ उपाय करना चाहिए ।

शंकु सहमत हो गया । वृद्ध महामात्य तथा पुष्य मित्र ने अपनी योजना बनाली है । जहाँ अकर्मण्यता होगी वहीं पतन अपने पाँव फैलाता है पर जहाँ कर्म करने को कोई संकल्प लेकर प्रस्तुत होता है, तो सहायक मिल ही जाते हैं । अकर्मण्य सम्राट वृहद्रथ से सेना भी प्रसन्न नहीं थी । महामात्य शंकु का कई गुल्म नायकों पर अब भी प्रभाव था उनकी एक गोष्ठी आयोजित की गई ।

पुष्य मित्र ने उन्हें उद्‌बोधन दिया-"मौर्य वाहिनी के वीरो ! तुम्हें स्मरण होगा इसी पाटलिपुत्र के सम्राट ने सेल्यूकस का मानमर्दन करके उससे अपमानजनक संधि कराई थी । इन्हीं वीरों ने सारे भारत को सम्राट अशोक के नेतृत्व में एक सूत्र में पिरोया था ।

तुम्हें पता होगा दिमित्र पाटलिपुत्र विजय करने आ रहा है और हमारे सम्राट को अपने विलास-कक्ष से बाहर निकलने का समय नहीं ।

बोलो ! क्या तुम अपने जीते जी इस भूमि को पद दलित होने दोगे ।

"कदापि नहीं, कदापि नहीं ।"

"मुझे तुमसे यही आशा थी ।"

इसी प्रकार का उद्‌बोधन नागरिकों को भी दिया गया ।

"पाटलिपुत्र के नागरिको ! आपको ज्ञात होगा कि दिमित्र यवन पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने आ रहा है । क्या आप इसके गौरव की रक्षा को तन, मन, धन देकर बचाने का प्रयास नहीं करेंगे ? करेंगे ! अवश्य करेंगे !! एक समवेत स्वर गूँजा । "कल सब सम्राट के सम्मुख उपस्थित होंगे वहाँ निर्णय होगा"-पुष्यमित्र ने कहा ।

दूसरे दिन । सम्राट के दर्शनों के लिए प्रजा एकत्रित हो चुकी थी पर उन्हें

यवन दासियों से पांव दबबाने से फुर्सत नहीं थी । पुष्यमित्र ने परिचारिका को कहा-"सम्राट से निवेदन करो प्रजा आपके दर्शन चाहती है ।"

बड़ी देर में सम्राट पधारे । "सम्राट वृहद्रथ की जय"-प्रजा ने जयकार की ।

"आप लोगों को कोई कष्ट है ? हम सम्राट हैं, कहो ?"

"सम्राट, मैं पुष्य मित्र शुंग पाटलिपुत्र की प्रजा के सेवक के रूप में श्रीमान से निवेदन करना चाहता हूँ कि पाटलिपुत्र के नागरिक अपने आप को अरक्षित अनुभव कर रहे हैं । श्रेष्ठिजन नगर छोड़कर जा रहे हैं । सारे नगर में भय की लहर छाई है ।"

"इसका कारण ?"-सम्राट ने पूछा ।

"यवन दिमित्र का आक्रमण ।"

"तो इसमें भय करने की क्या बात है । हम अहिंसा के पुजारी हैं, व्यर्थ का रक्तपात हमें पसंद नहीं । हम राज्य उन्हें दे देंगे ।" सम्राट बोले ।

"प्रजा पूछती है कि क्या आज तक यही हमारी परम्परा रही है ? यवन नगर को बिना लूटे छोड़ देंगे ? हमारे देव मंदिरों को नहीं तोड़ेंगे ?"-पुष्य मित्र ने कहा ।

"तो मैं क्या करूँ ? प्रजा क्या चाहती है ?"

"प्रजा युद्ध चाहती है सम्राट !"

"हमारी सेना पूरी यहाँ हैं नहीं, आने में काफी समय लगेगा, तब तक पाटलिपुत्र की रक्षा असंभव है ।"-सम्राट बोले ।

"प्रजा मान सहित मरना पसंद करती है सम्राट । प्रजा ही सेना की तरह लड़ेगी । मैं इसका सेनापतित्व करूँगा । यही प्रजा पाटलिपुत्र का गौरव अक्षुण्ण रखेगी"-पुष्य मित्र ने कहा ।

सम्राट का पतनोन्मुख जीवन उन्हें खोखला बना चुका था वे पुष्य मित्र के व्यक्तित्व के आगे ठहर न सके । "मैं तुम्हें सेनापति के समस्त अधिकार सौंपता हूँ ।

सम्राट ने कहा-"सेनापति पुष्य मित्र की जय" के जयघोष से पाटलिपुत्र में नव जीवन आ गया ।

पुष्य मित्र ने बाहर गई सेना को बुलाने विश्वस्त सैनिक भेज दिए । सम्राट तथा उनका महामात्य महलों में ही नजरबंद कर दिए गए । सैनिकों को इकट्ठा करके

नगर के प्राचीरों पर पहरा आरंभ करवा दिया ।

धनिकों ने धन दिया, युवक सैनिक प्रशिक्षण पाने लगे महिलाओं ने रसद व गर्म पानी तथा पत्थरों की व्यवस्था जुटानी आरंभ कर दी । कल का अरक्षित पाटलिपुत्र आज गौरव से सिर उठाकर खड़ा हो गया ।

यवन सेना ने आकर दुर्ग घेर लिया । दुर्ग के चारों ओर खाई में पानी भरा था । जो भी तैर कर प्राचीर पर चढ़ने का प्रयास करता, उस पर वह मार पड़ती कि भागता ही नजर आता । यवनों के तीर प्राचीर तक पहुँच नहीं पाते थे । प्राचीर पर से बरसाये तीर गजब ढा रहे थे ।

यवनों की आधी सेना समाप्त हो गई । दिमित्र के सपने चूर-चूर होने लगे । उसने रात्रि में दूर एक नावों का बेड़ा बाँधा, दिन में उसे गंगा के पानी में खाई तक ले आया । एक सैनिक को इसकी भनक पड़ गई । उसने पुष्य मित्र को इसकी सूचना दी । यदि वे इसमें सफल हो जाते तो फिर उनका प्राचीर पर चढ़ना सरल था ।

उसने अपने पुत्र अग्नि मित्र के साथ पंद्रह गिने हुए सैनिक गुप्त रास्ते से खाई में प्रविष्ट करा दिए वे अंदर ही अंदर बेड़े तक जा पहुँचे और सब नावें बहा आए । इस जोखिम भरे काम को इन वीरों ने इस कुशलता से किया कि यवन जान भी न सके ।

दूसरे दिन मगध की बाहर गई सेना वापस आ चुकी थी । यवन दो पाटों के बीच फँस गए । जब उनके योद्धा कट-कट कर गिरने लगे तो सेना में खलबली मच गई । दिमित्र सिर पर पाँव रखकर भागता नजर आया ।

पुष्य मित्र के परिश्रम और साहस से पाटलिपुत्र का सम्मान अक्षुण्ण रह गया । नागरिकों ने पुष्य मित्र को ही वहाँ का सम्राट चुन लिया । उसने अपने दायित्व को बड़ी कुशलता से निभाया ।

पुष्य मित्र शुंग की भूमिका प्रस्तुत करने के लिए आज भी समय जागृत आत्माओं को युग धर्म पालन के लिए पुकार रहा है ।

निष्काम लोकसेवी महाराजा
हर्षवर्धन

"अब भी आप राज्यारोहण के लिए तैयार नहीं हैं ।" बाल्य बंधु माधव गुप्त ने स्थानेश्वर नरेश प्रभाकर वर्धन के द्वितीय पुत्र शिलादित्य से पूछा ।

"माधव ! अब तुम्हें कितनी बार कहूँ कि मुझे राजा बनने में कोई अनुरक्ति नहीं है । मैं तो धर्म-प्रचार करके अपना यह जीवन सफल-सार्थक करना चाहता हूँ । कितना अच्छा होता मैं किसी साधारण व्यक्ति के घर जन्म लेता तो आज की सी विषम परिस्थिति तो सामने नहीं आती ।"

"राजकुमार ! आप यह समझते हैं कि बौद्ध भिक्षु बन कर ही आप लोकसेवा कर सकेंगे, अपना जीवन सफल-सार्थक कर सकेंगे, राजा बनकर नहीं । मेरी दृष्टि में तो आपका यह सोचना ठीक नहीं । मनुष्य यदि अपना दृष्टिकोण सही रखे तो वह किसी भी काम को करता हुआ लोकसेवा कर सकता है । आप राज्याधिकार को अपनी महत्वाकांक्षा तृप्ति, सुखोपभोग, ऐश्वर्य लाभ के लिए नहीं अपने दायित्व के रूप में निष्काम भाव से भी तो ग्रहण कर सकते हैं । फिर आप जो कार्य बौद्ध भिक्षु बनकर कर सकते हैं उससे कहीं अधिक स्थानेश्वर सम्राट बनकर भी कर सकते हैं । ऋषि-मनीषियों का कथन है कि संसार से भागने की आवश्यकता नहीं है, अपनी दृष्टि को असंसारी बनाने की है ।"

अपने बाल्य बंधु का कथन उन्हें तथ्यपूर्ण लगा । वे उस पर गहराई से विचार करने लगे । माधव गुप्त ने देखा उसकी बातों का असर होने लगा है । अत: उसने अपनी बात आगे बढ़ायी-"आज आपका व्यक्तित्व जवान है । आप शरीर से पुष्ट, बलवान, बौद्धिक दृष्टि से परिपक्व और ज्ञानवान हैं । आपको इस स्थिति तक पहुँचाने में आप के स्वर्गीय पिताजी परम भट्टारक महाराजा प्रभाकर वर्धन, आपके अग्रज महाराज राज्य वर्धन, भगिनी राज्यश्री आदि का स्नेह, सहयोग रहा है । स्वर्गीय महाराज की यश कीर्ति को अक्षुण्ण रखना, अपने अग्रज की मृत्यु का प्रतिकार लेना, भगिनी की असहायावस्था में सहायता करना भी तो आपका दायित्व है । और फिर स्थानेश्वर के राज्य सिंहासन पर बैठकर प्रजा को सुशासन देना, राष्ट्र

की समृद्धि का उद्योग करना भी तो पुण्य कार्य ही है । उसे भी आप निष्काम भाव से करते रह सकते हैं ।"

शिलादित्य पर माधव गुप्त की बातों का प्रभाव पड़े बिना न रह सका । ठीक ही तो कह रहा है वह । व्यक्ति का दृष्टिकोण सेवा परक हो भोग परक नहीं । तो फिर वैभव उसे बाँध कैसे पायेगा । वह तो उनसे निर्लिप्त रह कर अपने अभीष्ट को पूरा करता रहेगा । मैं भी स्थानेश्वर का राज्य सिंहासन प्रजा के सेवक के रूप में ही ग्रहण करूँ तो अपने जीवनोद्देश्य से भटक नहीं सकता ।

शिलादित्य हर्षवर्धन के नाम से स्थानेश्वर को राज्य सिंहासन पर बैठा । उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता राज्यवर्धन की धोखे से हत्या कर देने वाले मालवाधिपति देव गुप्त और गौड़ाधिपति शशांक नरेन्द्र गुप्त को पराजित किया । भगिनी राज्यश्री, जो कान्यकुब्ज के राजा गृहवर्मा को ब्याही गयी थी, मालवाधिपति देव गुप्त के आक्रमण और गृहवर्मा की हत्या के उपरांत विंध्याचल की ओर चली गयी थी । उसके राज्य की रक्षा और उसकी खोज के प्रयत्नों में निरत हर्ष के ज्येष्ठ भ्राता राज्यवर्धन भी धोखे से मारे जा चुके थे । कन्नौज का राज्य तो हर्ष ने आक्रमणकारियों से छीन लिया था पर राज्यश्री का कोई पता नहीं चल रहा था ।

राज्यश्री की खोज के लिए हर्ष एक विशाल सेना लेकर विंध्याचल की उपत्यकाओं में भटकते फिरे । बड़ी खोज के बाद उन्हें राज्यश्री मिली । वह अपनी दुखद स्थिति से हार कर चितारोहण करने ही जा रही थी कि हर्ष वहाँ जा पहुँचे और उन्होंने अपनी बहन को बचा लिया । पति और भ्राता की हत्या और राज्य छिन जाने की वेदना ने उसे झिझोड़ कर रख दिया था । वह विक्षिप्त सी हो गयी थी । अपने जीवन से निराश राज्यश्री को जीवन की वास्तविकता और महान उद्देश्य से परिचित कराने के लिए हर्ष को बहुत प्रयास करने पड़े । अपने इन प्रयासों में वे सफल भी हुए ।

प्राय: देखा जाता है कि सफलता के पश्चात व्यक्ति अपने आदर्शों से गिर जाता है । किन्तु निरंतर आत्म-निरीक्षण करते रहने के कारण वे अपने आदर्शों से गिरे नहीं वरन् उन्होंने महाराज जनक की तरह अपने आपको राज्य और वैभव से निर्लिप्त ही रखा ।

सामयिक परिस्थितियों से निपटने के बाद उन्होंने एक क्रांतिकारी निर्णय

लिया-कान्यकुब्ज के राज सिंहासन पर अपनी बहन राज्यश्री को बिठाने का। राज्यश्री इसके लिए बड़ी कठिनाई से तैयार हुई थी। राज्यश्री को कान्यकुब्ज की साम्राज्ञी बनाकर वे स्वयं उसके मांडलिक बने। उनके द्वारा पराजित देवगुप्त व शशांक नरेन्द्र गुप्त आदि राजाओं को भी उन्होंने कान्यकुब्ज साम्राज्य के मांडलिक बनने पर विवश किया। ऐसा अब तक के इतिहास में नहीं हुआ था। नारी द्वारा इतने बड़े साम्राज्य का सूत्र-संचालन करना और कितने ही पुरुष राजाओं द्वारा उसका मांडलिक बनना, नारी और पुरुष की समानता सिद्ध करने का यह हर्ष का साहसिक कदम था, साथ ही उनकी निस्वार्थता का परिचायक भी था।

गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात हर्ष वर्धन ने एक बार फिर हारे आर्यावर्त को एक सुदृढ़ साम्राज्य के रूप में गठित करने का भागीरथ प्रयास किया। उनका यह प्रयास भी एक नवीनता लिए हुए था। उन्होंने सभी राजाओं से अनुरोध किया कि वे आपस में लड़ना-झगड़ना छोड़कर परस्पर मित्र बन जाँय। राज्यों के बीच परिवार भाव का विकास करके एक झंडे तले आ जाँय। राज्यश्री को उन्होंने अपनी बहन के नाते नहीं मातृशक्ति के नाते उस संघ राज्य की अधिष्ठात्री बनाने की बात की। वे स्वयं भी उसके मांडलिक बने तथा अपनी तरह दूसरे राजाओं को भी कान्यकुब्ज साम्राज्य के मांडलिक बन जाने का अनुरोध किया। उनकी इस तथ्यपूर्ण बात को जिन राजाओं ने समझा वे तो स्वेच्छापूर्वक कान्यकुब्ज साम्राज्य के मांडलिक बन गए। किन्तु जो दुराग्रही थे उन्हें युद्ध द्वारा यह बात मनवानी पड़ी। इस प्रकार उन्होंने विशृंखलित आर्यावर्त को पुनः सुदृढ़ साम्राज्य के रूप में गठित किया। राज्यों को एक सूत्र में पिरोकर एक सुसंबद्ध माला का रूप दिया। उनका यह उद्योग इसीलिए था कि समर्थ भारत विदेशी आक्रमणकारियों की भ्रष्ट कामनाओं को भस्मीभूत कर सके। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद उनके इस उद्योग ने पुनः भारत को शक्तिशाली बनाया था। उनकी विशेषता यह थी कि उन्होंने यह सब सहयोग व सद्भावना के आधार पर ही करना चाहा था।

आपद्धर्म की तरह राज्याभिषेक करा लेने और राज्य का सूत्र संचालन करते हुए भी हर्ष त्यागी-विरागी ही बने रहे। जैसे कि उन्होंने अपने आप को बनाये रखना चाहा था। कहीं राज्य में मोह न उत्पन्न हो जाय इसलिए वे कान्यकुब्ज के सिंहासन पर आरूढ़ नहीं हुए। उन्होंने विवाह भी नहीं किया। आजन्म अविवाहित

रहते हुए वे निष्काम भाव से राष्ट्र सेवा करते रहे । विवाह कर लेने और संतान हो जाने पर उनके उत्तराधिकारी अयोग्य होते हुए भी राज्य पर अपना अधिकार जता सकते थे अत: उन्होंने विवाह किया ही नहीं । वे राजाओं के सामने एक आदर्श उपस्थित करना चाहते थे कि राजा बनने का उद्देश्य राज्य भोगना नहीं एक सेवक की भांति उसका प्रबंध करना होना चाहिए ।

अविवाहित होते हुए भी अपना स्नेह लुटाने के लिए उन्होंने एक अनाथ बालिका को अपनी पालित पुत्री बना लिया था । इस प्रकार मानव मन की सहज स्वाभाविक भूख संतान पाने, उसका पोषण-निर्माण करने की कामना को उन्होंने एक परमार्थिक दृष्टि दी थी । अविवाहित रहते हुए भी संतान का सुख पाया जा सकता है, यह उनके इस आचरण द्वारा स्पष्ट हो जाता है ।

हर्ष वर्धन को तत्कालीन राजा लोग समझ नहीं पाये थे । यह भी हो सकता है कि समझकर भी अपने स्वार्थों से ऊपर नहीं उठ पाये थे । इसी कारण उन्हें समूचे आर्यावर्त को एक सुदृढ़ साम्राज्य के रूप में गठित करने में ही अपने जीवन के अधिकांश वर्ष लगा देने पड़े थे । जब अधिकांश राज्य स्वेच्छा से सुसंगठित होने को तैयार नहीं हुए तो उन्हें सैन्यबल व युद्ध में पराजित करके एक साम्राज्य के मांडलिक बनने को विवश करना पड़ा था । वे लोग स्वेच्छा से उनकी सुंदर और हितकारी योजना को स्वीकार कर लेते तो उस समय उस शक्ति को किसी ओर ही दिशा में लगाते जो युद्धों में खर्च हुई ।

अधिकांश समय सुदृढ़ साम्राज्य के गठन में लगाते हुए भी उन्होंने बहुत से ऐसे काम किये जो राजाओं के लिए आदर्श कहे जा सकते हैं ।

धन और धरती तो ईश्वर की है । उस पर सभी मनुष्यों का समान अधिकार है । राजा सामान्य मनुष्य से अधिक सुख, सम्पदा व ऐश्वर्य क्यों भोगे । राज्य के कोष में क्यों जनता के श्रम बिंदुओं द्वारा उपार्जित पूँजी जमा पड़ी रहे । अत: वे हर पाँचवे वर्ष प्रयाग में एक विशाल सम्मेलन करते थे । इस सम्मेलन का स्वरूप धर्म सम्मेलन का था । इस अवसर पर वे सभी प्रचलित धर्मों को समभाव से सम्मानित किया करते थे । यों वे स्वयं बौद्ध धर्म के मानने वाले थे किन्तु अपने धर्म के प्रचार के प्रति ही वे आग्रही नहीं थे । वे बौद्ध, वैदिक, जैन तथा अन्य सभी धर्मों के देवताओं की प्रतिमाओं की इस अवसर पर पूजा किया करते थे । पाँच

वर्ष तक राज कोष में जो सम्पदा एकत्रित होती थी उसका जन हित में विनियोग करते थे । गरीबों, असहायों और कष्ट पीड़ितों को सहायता देने के साथ-साथ लोक सेवी संस्थाओं और शिक्षण संस्थाओं को मुक्त हस्त से दान दिया करते थे ।

यह अवसर एक प्रकार से सर्वस्व दान का अवसर होता था । वे अपने वस्त्राभूषण तक दान में दे दिया करते थे और फिर अपनी बहन राज्यश्री से माँग कर वस्त्र पहनते थे । राज्यश्री के साम्राज्य के प्रबंध संचालन में भी वे उसकी सहायता किया करते थे । धार्मिक सहिष्णुता और सर्वधर्म समन्वय का जो प्रयास हर्षवर्धन ने किया था उससे प्रजा पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा था ।

उनके समय में चीन से ह्वेनसांग नामक एक यात्री भारत आया था । वह उनके इस शासन प्रबंध को देखकर बहुत प्रभावित हुआ था । उसने अपने यात्रा संस्मरणों में तत्कालीन जन जीवन की सुख, समृद्धि तथा सुंदर राज्य प्रबंध का वर्णन किया है । उसने लिखा है कि उस समय के सभी लोग सुखी, समृद्ध और संतुष्ट थे । पारस्परिक स्नेह, सद्भाव और सहयोग को व्यक्ति आवश्यक मानता था । कर बहुत कम थे । अपराध नहीं के बराबर होते थे । दंड व्यवस्था कठोर थी । राजा अपने को प्रजा का स्वामी नहीं सेवक मानता था ।

हर्ष कुशल प्रशासक योद्धा व जनसेवी राजा ही नहीं अपितु लेखक भी थे । उसने नागा नंद, रत्नावली, प्रियदर्शिका आदि ग्रंथों की रचना की थी । 'बाण भट्ट' नामक महाकवि उसी के दरबार का रत्न था । 'हर्ष चरित' व 'कादम्बरी' उसकी प्रमुख रचनाएं हैं । धर्म प्रचार व शिक्षा प्रसार के लिए भी उन्होंने बहुत यत्न किया था, वे धर्म की मूल भावना तक पहुँचे थे । सब धर्मों के मूल तत्व एक हैं, उनके बाह्य स्वरूप में भले ही थोड़ा बहुत अंतर हो सकता है । अतः प्रत्येक धर्मावलंबी को इतर धर्मों के साथ सहिष्णुता बरतनी चाहिए । इस भावना को व्यवहार में लाने के लिए ही वे हर पाँचवे वर्ष धर्म सम्मेलन का आयोजन करते थे ।

हर्ष वर्धन का काल ५९० ईस्वी से ६४८ ईस्वी तक का काल था । राजा प्रजा का सेवक होता है । उसकी अपनी सारी क्षमताएं, योग्यताएं, विभूतियाँ अपने लिए न होकर जनता के लिए होती हैं । उन्होंने यह आदर्श अपने जीवन में उतार कर बताए थे । राजा का पद वंश क्रमानुसार नहीं योग्यता और सेवा भावना के आधार पर मिले, इसके लिए उन्होंने विवाह तक नहीं किया । यदि उनके इन

आदर्शों को तत्कालीन राजाओं ने अपने जीवन में उतारा होता तो आज हमारा इतिहास कुछ और होता । उनके ये आदर्श आज के राजनेताओं के लिए भी कम अनुकरणीय नहीं है ।

वस्तुत: तो कोई भी पद अथवा अधिकार अपने लिए सुख-सुविधाएं बढ़ाने के लिए नहीं मिलता । उनके मिलने का तो एक ही कारण है कि हम उनके माध्यम से और अच्छी तरह जनसेवा कर सकें । सम्राट हर्ष वर्धन ने अपने जीवन और चरित्र के माध्यम से यह एक आदर्श हमारे सामने रखा । जिसे हमें भी अपने जीवन में उतारना चाहिए ।

दक्षिण भारत के चाणक्य
विद्यारण्य

सन् ७१२ ई० में अरबों ने भारत पर पहला आक्रमण किया । इस आक्रमण का नेतृत्व किया था मुहम्मद बिन कासिम ने और पहला आक्रमण का निशाना बनाया था सिंध को । मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध के शासक दाहिर को परास्त करने में सफलता प्राप्त की और वहाँ अपने साम्राज्य का झंडा रोपा । सिंध से देवल और मुलतान तक भी अरब साम्राज्य का विस्तार हुआ और यह सारा विस्तार तीन चार वर्षों के प्रयत्नों का ही परिणाम था । इससे आगे का अभियान जुनैद और तामिन नामक प्रतिनिधियों को सौंप कर कासिम वापस लौट गया । तब तक भारतीय जनता और राजाओं में भी स्थिति के प्रति जागरूकता और सतर्कता आ गयी थी परिणामस्वरूप एकता, शौर्य और साहस में अद्वितीय स्थान रखने वाली भारतीय जनता के सम्मुख जुनैद और तामिन तथा उनकी सेनाओं की एक न चल सकी । यद्यपि वे अपने अभियान को सफल बनाने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगाते रहे परंतु सफलता नहीं मिली ।

अरब आक्रमण से भारतवर्ष लगभग तीन शताब्दियों तक एक प्रकार से असुरक्षित हो गया । परंतु इन तीन शताब्दियों के दौरान ही कुछ ऐसा राजनीतिक घटनाचक्र चला कि हमारे देश की राष्ट्रीय एकता खतरे में पड़ गयी । भारतीय राजा

आपस में लड़ने लगे। दसवीं शताब्दी में पुनः एक बार जोरदार अरब आक्रमण हुआ और पंजाब हाथ से निकल गया। भारतीय रियासतों ने फिर भी इस घटना से कोई सबक नहीं लिया। वे आपस के झगड़ों में ही अपनी शक्ति नष्ट करते रहे। गुजरात के चालुक्य और अजमेर के चौहान, महोबा के चंदेल और कन्नौज के गाहडवाल, जिनके सम्मिलित प्रयासों ने आक्रामकों के दांत खट्टे किए थे, आपस में ही लड़ने-भिड़ने और मरने-मारने लगे।

इस स्थिति का लाभ उठाकर महमूद गजनवी ने छब्बीस वर्षों के भीतर भारत पर सत्रह बार हमले किए। भारतीय सेनाओं ने आनंदपाल के नेतृत्व में महमूद का मुकाबला झेलम के किनारे किया परंतु बिखरी हुई शक्तियों का अस्थायी गठबंधन गजनवी का मुकाबला नहीं कर सका और विजय महमूद को ही मिली। महमूद गजनवी ने इस आक्रमण में विजयी होकर मथुरा, वृन्दावन, कन्नौज, कालिंजर के मंदिरों को लूटा। गुजरात के प्रसिद्ध सोमनाथ मंदिर को लूटने और सोमनाथ की मूर्ति का भंजन कर 'बुत शिकन' होने का धर्मांध श्रेय भी गजनवी ने ही प्राप्त किया। फिर भी मूलतः वह लुटेरा था उसकी रुचि साम्राज्य स्थापित करने की अपेक्षा हीरे-जवाहरातों से अपना कोश भरने में अधिक थी। अपने इस उद्देश्य में एक दृष्टि से सफल होकर वह वापस चला गया।

साम्राज्य स्थापना की इच्छा से मौहम्मद गौरी ने ११९१ में भारत पर पहला आक्रमण किया। इस आक्रमण का सामना किया दिल्ली के प्रसिद्ध शूरवीर सम्राट पृथ्वीराज चौहान ने। परंतु अपने स्वार्थों के लिए राष्ट्रीय हितों का खून करने वालों की भी कमी नहीं थी। व्यक्तिगत शत्रुता के कारण इसीलिए गौरी का स्वागत किया कन्नौज के जयचंद ने। जिसका नाम ही देशद्रोही प्रवृत्तियों का प्रतीक बन गया है और दिल्ली पर एक लंबे संघर्ष के बाद मौहम्मद गौरी ने विजय प्राप्त की और भारत की दासता का अंध युग आरंभ हुआ कतिपय देशद्रोही तत्वों के कारण।

इस लंबी भूमिका के प्रस्तुतीकरण का उद्देश्य राष्ट्रीय विपत्तियों के मूल में एकता का अभाव कहना ही है। मुगल साम्राज्य की स्थापना के बाद धीरे-धीरे अन्य राज्यों में भी उनका प्रभाव प्रबल होता गया। कोई विजेता राष्ट्र विजय के बाद विजित राष्ट्र की सांस्कृतिक आधार शिलाओं पर चोट करता है ताकि भविष्य में उसके प्राणों में राष्ट्रीयता का बीज अंकुरित न होने पाये। भारतीय धर्म और भारतीय

संस्कृति पर जब बर्बर आक्रमणों की शुरूआत हुई और उनकी भीषणता बढ़ती गयी तो ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता प्रबल हुई जो अपनी मेधा, प्रतिभा के बल पर बिखरे मणि-माणिक्यों को एक सूत्र में आबद्ध कर सके और उस समय यह आवश्यकता पूरी भी की गई । चौदहवीं शताब्दी में दक्षिण भारत के दो भाईयों ने विजय नगर साम्राज्य की स्थापना की और इस राज्य की सीमा का विस्तार भी किया । यद्यपि इस प्रयास का श्रेय उनके संस्थापकों हरिहर और बुक्काराय को दिया जाता है परंतु बहुत कम लोग जानते हैं कि इस प्रयास के मूल में चाणक्य की तरह एक अद्भुत व्यक्ति काम कर रहा था जिसका नाम था-विद्यारण्य ।

विद्यारण्य बचपन का नाम था । उनके पिता विजय नगर राज्य के संस्थापक हरिहर-बुक्काराय के कुलगुरु थे । इसी कारण उन्हें हरिहर के राजवंश के निकट सम्पर्क में रहने का अवसर प्राप्त हुआ । विद्यारण्य ने अपनी प्रारंभिक शिक्षा अपने पिता तथा राजवंश के कुलगुरु आचार्य सायण के सान्निध्य में सम्पन्न की और आगे चलकर अपने समय के विख्यात विद्वानों विद्यातीर्थ, भारतीतीर्थ और श्रीकंठ के सान्निध्य में चली । विद्यातीर्थ शृंगेरी मठ के शंकराचार्य थे, भारतीतीर्थ भी वेदांत के ही उपदेष्टा थे और श्रीकंठ से उन्होंने साहित्य तथा संस्कृति का ज्ञान अर्जित किया था ।

कहा जा चुका है कि उस समय न केवल भारतीय राजनीति पर ही विदेशी शक्तियाँ हावी थीं वरन् धर्म और संस्कृति को भी पूरी तरह नष्ट करने का कुचक्र जोरों से चल रहा था । बालक माधव ने अपने बाल्यकाल से ही देश और समाज की इस पतनशील अवस्था को देखा था तथा जागरूक अंतस् में आक्रोश भी उत्पन्न होता अनुभव किया था । विद्यारण्य के एक जीवनीकार ने उस समय की स्थिति का उल्लेख करते हुए लिखा है-"उस समय लोग चिदम्बरम् के पवित्र तीर्थ को छोड़कर भाग गए थे । मंदिरों के गर्भगृह और मंडलों में घास उग आयी थी । अग्रहारों से यज्ञ धूप की सुगंध के स्थान पर पकते मांस की गंध आने लगी थी । ताम्रपर्णी नदी का जल चंदन से मिश्रित होने के स्थान पर गोरक्त से मिश्रित होने लगा था । देवालयों और मंदिरों पर कर लग गए थे । अनेक मंदिर देखभाल न होने के कारण या तो स्वयं गिर गए थे अथवा गिरा दिए गए थे । हिन्दू राज्य छल-बल से समाप्त होते जा रहे थे ।"

जिन विभूतियों को माधव के शिक्षण और मार्गदर्शन का दायित्व प्राप्त था, वे भी किसी प्रकार इस दु:स्थिति को उलट देने के लिए लालायित थे, लालायित ही नहीं प्रयत्नशील भी थे। माधव ज्यों ज्यों बड़े होते गए वे अपने व्यक्तित्व निर्माताओं के प्रयासों के अनुरूप ढलने लगे। और जब गुरुगृह से लौटने लगे तो भारतीय परम्परा के अनुसार उन्होंने गुरुओं से पूछा-ब्राह्मण परम्परा के अनुसार मैं आपको दक्षिणा में क्या अर्पित करूँ ?

"अपना जीवन"-छ: अक्षरों का उत्तर मिला। और उन्होंने जीवन अर्पित कर दिया जिसको दक्षिणा स्वरूप ग्रहण कर प्रसाद स्वरूप इस शर्त के साथ लौटा दिया कि राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से खंड खंड होते जा रहे भारत का पुनर्जागरण कर भारतीय धर्म और संस्कृति को पुनर्जीवन देना।

माधवाचार्य (बाद में विद्यारण्य) अपनी कुल परम्परा से हरिहर और बुक्काराय के वंश के कुलगुरु बने। इन सामंत पुत्रों से उनका निकट संबंध था। अत: उन्हीं की प्रेरणा और संरक्षण में संगमराज के पुत्र हरिहर प्रथम ने सन् १३३६ ई० में विजय नगर राज्य की नींव डाली। दक्षिण भारत को दिल्ली का कमजोर मुगल शासन अपनी नियंत्रण व्यवस्था में रख पाने में असमर्थ हो रहा था। इसी कमजोरी का लाभ उठाकर चौदहवीं शताब्दी में अपने ढंग का यह पहला प्रयास हुआ विजय नगर के नाम से तुंगभद्रा नदी के तट पर एक सुंदर नगर बसाया गया, जिसकी रमणीकता का वर्णन करते हुए उस समय भारत आए एक फारस यात्री ने लिखा है-"सम्पूर्ण विश्व में विजय नगर जैसा साम्राज्य न देखा है और न सुना है। उसके चारों ओर सात दीवारें हैं। बाहर की दीवार के चारों ओर लगभग ५० गज की चौड़ाई और लगभग १०॥ फुट की ऊँचाई के पत्थर लगे हैं जिससे नगर की सुरक्षा होती है और प्रहरियों की निगाह बचा कर कोई भी नगर में प्रवेश नहीं कर सकता। नगर के भीतर विभिन्न वस्तुओं के बाजार अलग-अलग स्थित हैं। हीरे-जवाहरात आदि बहुमूल्य चीजें खुले बाजार में स्वतंत्रतापूर्वक बिकती हैं। देश में अच्छी खेती होती है और जमीन उपजाऊ है।" एक दूसरे इटालियन यात्री ने विजय नगर साम्राज्य को सर्वाधिक शक्तिशाली और सम्पन्न राज्य कहा है।

इन सफलताओं को प्राप्त करने में लंबा समय लगा। विजय नगर राज्य की

स्थापना के बाद उसकी स्थिति को सुदृढ़ बनाना तथा उद्देश्य का अगला चरण पूरा करना था जिसे दृढ़ता पूर्वक अमल में लाना था । विद्यारण्य के छोटे भाई सायण विद्वान होने के साथ साथ एक योग्य सेनापति भी थे । सायण के नायकत्व में विजय नगर साम्राज्य की सेनाओं ने आसपास फैले मुगल साम्राज्य पर आक्रमण आरंभ किया । उस समय दिल्ली में मुहम्मद बिन तुगलक का शासन था जो पूर्वापेक्षा काफी अशक्त और क्षीण हो गया था । विजय नगर की सेनाओं ने अपने राज्य के समीपवर्ती कई क्षेत्रों को विदेशी दासता के चंगुल से मुक्त किया । इस अभियान के संचालक और मार्गदर्शक विद्यारण्य ही थे जिनके संबंध में कहा जाता है कि जिस प्रकार चाणक्य ने बिना तलवार उठाये नंद साम्राज्य का अंत किया और भारत का राष्ट्रीय स्वरूप प्रतिष्ठित किया, उसी प्रकार दक्षिण भारत में विद्यारण्य ने भी बिना शस्त्र ग्रहण किए भारतीय संस्कृति की विजय पताका पुनर्जीवन का कार्य सम्पन्न किया ।

विजय नगर ने दक्षिण भारत के समुद्री तट पर अधिकांश भाग में स्वदेशी शासन की स्थापना कर ली थी । कोंकण तट, मालावार का समुद्री तट और कावेरी नदी सहित होयरक्ल राज्य भी विजय नगर साम्राज्य के अंग बन गए । कहा जाता है कि इस विजय अभियान के लिए ग्यारह लाख देशभक्त युवकों को सेना में भर्ती किया गया था । साम्राज्य का विस्तार इतना अधिक हो गया था कि उसकी सीमा के भीतर ३०० बंदरगाह आते थे ।

हरिहर बुक्काराय के शासन काल में वहाँ हिन्दू संस्कृति का पुनरुत्थान भी हुआ । प्राचीन मंदिरों का जीर्णोद्धार किया गया और जिनमें पूजा-आरती का क्रम बंद हो गया, वहाँ का वातावरण पुनः घंटा, घड़ियालों से निनादित होने लगा । जो मंदिर और देवालय विदेशी आक्रमणकारियों ने तुड़वा दिए थे उन्हें फिर से बनवा कर तैयार किया गया । गुरुकुल परम्परा तथा आश्रम व्यवस्था पुनः प्रचलित हुई । इन सब प्रवृत्तियों के पीछे विद्यारण्य का दिशा निर्देशन तथा शासकों की निष्ठा भावमा थी । वहाँ की स्थिति का उल्लेख इतिहासकारों ने कुछ इस प्रकार किया है-"विजय नगर राज्य की स्थापना विदेशी शासकों के अनाचार, अत्याचार तथा सांस्कृतिक ध्वंसलीला के विरुद्ध एक समर्थ प्रतिरोधक शक्ति के रूप में हुआ था । प्रजा और राजा दोनों ही धर्मरत थे । अधिकांश लोग वैष्णव मत को मानने वाले थे फिर भी

राज्य व्यवस्था किसी भी धर्मनिष्ठा में कोई हस्तक्षेप नहीं करती थी । यहाँ तक कि विधर्मियों के प्रति भी उदार नीति बरती जाती थी । राज्य की ओर से सभी धर्मावलंबियों के लिए समान व्यवहार किया जाता था ।

भारतीय संस्कृति के नवोन्मिेष अभियान के दो चरण थे । पहला-राजनीति में स्वदेशभक्ति की प्रतिष्ठा और दूसरा-धर्मतंत्र को स्वस्थ तथा परिष्कृत रूप देना । माधवाचार्य के रूप में अब तक प्रथम चरण के लिए कार्यरत रहते हुए आरंभ की गयी परम्पराओं को भली भांति प्रचलित और सुदृढ़ देख आश्वस्त होकर माधवाचार्य दूसरे चरण के लिए संन्यासी हो गए । भारतीय धर्म दर्शन को नयी सामयिक दृष्टि देने के लिए संन्यास जीवन में माधवाचार्य विद्यारण्य के नाम से दीक्षित हुए ।

उनका संन्यास किसी जंगल में बैठकर मौन एकांत साधना या आत्मकल्याण और व्यक्तिगत मोक्ष की प्राप्ति के लिए नहीं था वरन् वे तो इस देश में जनकल्याण और शिक्षण का प्रयोजन पूरा करना चाहते थे । एक कुटिया में रहते हुए उन्होंने अपने तपोनिष्ठ जीवन द्वारा सर्वसाधारण को धर्म और अध्यात्म के व्यवहारिक स्वरूप को समझाना आरंभ किया । उनकी प्रतिष्ठा और पांडित्य, विद्वता ने उनके उद्देश्य को व्यापक बना दिया । लोग उनके पास व्यक्तिगत समस्याओं से लेकर सार्वजनिक गुत्थियों का हल पूछने तक आया करते और वे यथाशक्य उनकी आशा अपेक्षाओं को पूरा करते ।

संलाप चर्चा द्वारा वाणी के माध्यम से लोक शिक्षण करने के साथ उन्होंने महत्वपूर्ण ग्रंथों का प्रणयन भी किया उनकी लिखी हुई पाराशर माधवीय में हिन्दू धर्म के आचार पक्ष और विचार पक्ष का बड़ा सुंदर विवेचन है । दक्षिण भारत के विद्वान इस ग्रंथ को अब भी 'मनु-स्मृति' के समतुल्य महत्त्व देते हैं । इस ग्रंथ के अतिरिक्त उन्होंने 'जीवन्मुक्ति', 'विवेक पंचदशी' और 'जैमिनीय न्यायमाला' नामक ग्रंथ भी लिखे जिन्हें भी धर्मशास्त्रों के समान लोकप्रियता प्राप्त है ।

विजय नगर साम्राज्य सम्पूर्ण रूप से भारतीय धर्म और संस्कृति की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए उदित हुआ था अत: वहाँ संस्कृति की सभी मौलिक धाराओं धर्म, साहित्य, कला, संगीत, स्थापत्य आदि को प्रोत्साहित किया गया । इस राज्य के आरंभ काल में वेदों पर भाष्य भी लिखे गए और दर्शन ग्रंथ भी प्रणीत हुए । इन

कार्यों में विद्यारण्य ने महत्वपूर्ण योगदान दिया । माधवाचार्य ने सन् १३७७ में विद्यारण्य के नाम से संन्यास ग्रहण किया था और फिर वे आजीवन इसी प्रकार लोकसेवा साधना में लगे रहे ।

यद्यपि उन्होंने अब धर्मतंत्र के माध्यम से ही लोक सेवा का मार्ग अपना लिया था फिर भी राज्यकार्यों में आवश्यक परामर्श व मार्गदर्शन देते रहते थे । हरिहर बुक्काराय तथा अन्य बाद के शासक उनके महिमामंडित व्यक्तित्व से लाभ उठाने के लिए प्राय: उनकी कुटिया पर आया करते थे और उनसे राजनीतिक समस्याओं पर समाधान चर्चा किया करते थे । विद्यारण्य उन्हें समुचित मार्ग निर्देशन देते और राज्य संचालन की गुत्थियाँ सुलझाने में सहायता करते । उनके रहते विजय नगर साम्राज्य के सभी शासकों ने विद्यारण्य को राजगुरु के रूप में प्रतिष्ठित रखा । हरिहर प्रथम ने उन्हें अपने से भी ऊँचा आसन और सम्मान दिया था तथा वैदिक मार्ग प्रतिष्ठाता के सम्मानित सम्बोधन से सम्बोधित किया ।

तत्कालीन सामाजिक परिवर्तन में विद्यारण्य का एक प्रमुख योगदान यह रहा कि उन्होंने संन्यास का संबंध सूत्र सीधे समाज से भी जोड़ा । प्राय: साधु-संन्यासी उस समय भी समाज से निरपेक्ष और विमुख रहकर लोगों को कोरी भक्ति और पूजा-पाठ का उपदेश दिया करते थे । विद्यारण्य ने अपने समय के कई विख्यात और लोकादृत साधु-महंतों को लोक सेवा के रचनात्मक कार्यों में लगाया । उनके समय के प्रख्यात वैष्णव भक्ति के प्रचारक वेदांत देशिक को समग्र भारतीय धर्म और अध्यात्म के पुनरुत्थान में नियोजित करने की घटना तो ऐतिहासिक है ।

विद्यारण्य ने अपने समय में वाणी और लेखनी द्वारा ही नहीं व्यक्तित्व और कृतित्व द्वारा भी लोक नेतृत्व का जो आदर्श उपस्थित किया है, वह भारत के प्रथम राष्ट्र निर्माता चाणक्य का स्मरण दिला देता है । विजय नगर साम्राज्य की इतिहास में जितनी प्रशंसा होती है उसके पीछे आधार रूप में विद्यारण्य का ही व्यक्तित्व विद्यमान है ।

कवि चंद वरदायी
कलम और तलवार का धनी

राज कवि चंद सरस्वती की साधना में तल्लीन थे । उनकी इस तल्लीनता को गुरु 'राम' के इन वचनों ने भंग किया-

"कवि क्या छंदों के बंधों में ही उलझे रहोगे या लेखनी छोड़कर असिधारों की बात भी करोगे ।"

"क्या हुआ गुरुदेव ! कुछ खोल कर भी तो कहिए ।"

"तुम्हें पता नहीं गजनी का सुल्तान फिर भारत विजय के स्वप्न देखने लगा है । वह अपनी विशाल वाहिनी लेकर प्रस्थान भी कर चुका है ।"

"पता है । उस आँधी को रोकने का प्रबंध भी हो रहा है । आप चिंता न करें राय पिथौरा से चार-चार बार पराजित होने वाले शाहबुद्दीन को इस बार भी मुँह की खानी पड़ेगी ।"

"लेकिन अबकी बार राय पिथोरा का शैन्य बल पहले का सा नहीं है । परमारों से युद्ध करने में हमारे बहुत से सैनिक काम आ चुके हैं । रही-सही शक्ति महारानी संयुक्ता के हरण में चली गयी । इस विवाह के पश्चात सम्राट पृथ्वीराज ने अपनी सैन्य व्यवस्था को सुदृढ़ करने की ओर भी ध्यान नहीं दिया है । वे तो नव-वधू के मोह पाश में बँधकर ही रह गए हैं ।"

"आप ठीक कहते हैं गुरुदेव ! सम्राट को अपनी वीरता पर आवश्यकता से अधिक ही गर्व हो चला है । पिछली विजयों ने तो उसे और भी बढ़ा दिया है किन्तु यह आक्रमण केवल दिल्ली पर ही तो नहीं हो रहा है । यह तो सारे आर्यावर्त पर हो रहा है । हमारी सभ्यता व संस्कृति पर हो रहा है । गौरी से अकेले राय पिथौरा ही लड़ने वाले नहीं हैं वरन् सारे उत्तरी भारत के राजा गण इस युद्ध में भाग लेने वाले हैं ।"

"इन सबको एक सूत्र में बाँधेगा कौन ?"

"हम फिर किस लिए हैं । मैंने इस आशय के पत्र विश्वस्त दूतों के साथ सभी राजाओं के पास भिजवा दिए हैं कि यह समय आपसी बैर-भाव भुलाकर

एक जुट होकर हमारे धर्म और संस्कृति पर आने वाली आँधी को रोकने में जुट जाना चाहिए नहीं तो ये बर्बर म्लेच्छ हमारे देव मंदिरों को भग्न करके रहेंगे, हमारी श्यामल धरती को घोड़ों की टापों तले रोंद कर रख देंगे। हमार माँ-बहनों की लज्जा लूटेंगे। अतः समय रहते चेत जाना चाहिए।"

"यह तो तुमने बहुत अच्छा किया है कवि राजा।"

"यही नहीं कई राजाओं से तो उत्साहवर्द्धन समाचार भी प्राप्त हो गए हैं। ठेठ बंगाल के कई राजा अपनी सैन्य शक्ति के साथ इस युद्ध में भाग लेने के लिए प्रस्थान कर चुके हैं। मेवाड़ के रावल सार विक्रम अपने दस हजार रण बांकुर राजपूतों के साथ चित्तौड़गढ़ से दिल्ली के लिए प्रस्थान कर चुके हैं। ऐसे ही उत्साहवर्द्धक समाचार प्रतिदिन आ रहे हैं। गौरी के आर्यावर्त की सीमा में पाँव रखने के पूर्व ही हम उसके आगे सुदृढ़ दीवार खड़ी कर देंगे, देश पर मर-मिटने वाले देशभक्तों की।"

"धन्य हो कवि! तुम निश्चय ही इस रत्न गर्भा धारित्री के लाड़ले सपूत रत्न हो।"

"ऐसा न कहें गुरुदेव! यह तो हमारा कर्तव्य है। यों दुर्भाग्य का रोना रोएं तो हजार विषय पड़े हैं। आज कैमास जैसे सुयोग्य मंत्री की कमी क्या नहीं खलती, जिसका महाराज ने जरा सी बात पर वध करवा दिया। कांगड़ा का सूबेदार हाहुली राय भी अपने अपमान को लेकर भरा बैठा है। सेनापति चामंड दाहिया अपने प्रिय सम्राट की आज्ञा शिरोधार्य कर लोह शृंखलाओं में जकड़ा बैठा है। वीरवर काका कन्ह की आँखों पर पट्टियाँ बँधी हैं। किन्तु हमें निराशावादी नहीं बनना है। हम प्रयत्न करेंगे सब ठीक हो जायेगा। मैं कल ही हाहुली राय के पास स्वयं जाने वाला हूँ। दल पंगुर जयचंद के पास भी मुझे ही जाना पड़ेगा उसे समझाने।"

कांगड़ा के उपरिक हाहुली राय से मिलकर राजकवि चंद्र वरदायी को निराशा ही हाथ लगी। वह पहले से ही गौरी से मिल चुका था। यद्यपि उसने स्वयं अपने मुँह से ऐसी बात नहीं कही थी किन्तु अपने विश्वस्त सामंतों से उन्हें इस बात का पता चल गया था। उसने तो कवि को बंदी बना लिया था ताकि वह उसके इस देश द्रोह की सूचना अन्य नरेशों तक पहुँचा ही न सके किन्तु वे

किसी प्रकार उसके जाल से निकलने में सफल हो गए थे ।

पृथ्वीराज अपूर्व योद्धा व धनुर्धर होते हुए भी आवश्यकता से अधिक अभिमानी था । उसके इस अभिमान के कारण वह अपने सामंतों व सहयोगियों के महत्व को भुलाता जा रहा था । अपने को ही सब कुछ मान लेने के कारण वह कई भयंकर भूलें करता जा रहा था । कोई सहयोगी उसे इस संबंध में कुछ कहता तो वह उसके प्राणों का ग्राहक तक बन जाता था ।

गौरी उसके राज्य पर आक्रमण करने के लिए चल पड़ा था फिर भी वह अपने मद में चूर राज्य कार्य की सुध भुला कर संयोगिता के विलास कक्ष में बंदी बना पड़ा था । किसी से मिलने की उसे चिंता नहीं थी । जो कोई मिलने आता उसके लिए बस यही एक आदेश था–"नहीं मिल सकते ।"

यह तो उसका सौभाग्य था कि उसे चंद्र वरदायी जैसा सुयोग्य राज कवि, सखा तथा मित्र मिला था, कैमास जैसा सुयोग्य व दूरदर्शी मंत्री मिला था, गुरु राम जैसा शुभचिंतक मार्गदर्शक तथा चामंड दाहिया व काका कन्ह जैसे स्वामिभक्त योद्धा मिले थे । जिनके बल पर राय पिथौरा की सारे भारत में धाक थी । गजनी का सुल्तान उसके नाम से काँपता था ।

कवि चंद्र कैमास की मृत्यु के उपरांत राज्य की सारी गतिविधियों का सूत्र संचालन कर रहे थे । वह परम उद्योगी देश भक्त पुरुष थे । सब कुछ वह निष्काम भाव से अपना कर्तव्य समझकर कर रहे थे । पृथ्वीराज से मिलने व गौरी के आक्रमण की सूचना देने के लिए वह तीन बार उसके पास गए किन्तु तीनों बार उसने अपने बिलास कक्ष से बाहर निकलने का कष्ट भी नहीं किया । सेविका के हाथ कहला दिया–"नहीं मिल सकते ।"

काँगड़ा से लौट कर भी चंद ने उससे मिलने का प्रयास किया पर वह सफल न हो सके । समय का मूल्य समझते हुए उन्होंने पृथ्वीराज तक अपनी बात पहुँचाने की अपेक्षा अपना दायित्व पूरा कर लेना ही उचित समझा । वह कन्नौज नरेश जयचंद के पास सहायता की भीख माँगने के लिए जा पहुँचे ।

जयचंद तो पृथ्वीराज के नाम से ही चिढ़ा बैठा था । मौसेरा भाई होते हुए भी वह अपने मामा अनंगपाल के राज्य का उत्तराधिकारी स्वयं को मानते हुए पृथ्वीराज का बैरी बना हुआ था । अपनी पुत्री संयोगिता के स्वयंबर में पृथ्वीराज का अपमान

करने के लिए उसने पृथ्वीराज की मूर्ति को द्वारपाल के स्थान पर प्रतिष्ठित किया। किन्तु छद्म वेश में पृथ्वीराज वहाँ उपस्थित था। संयोगिता ने उसके गले में जयमाला डाल दी और वह उसका हरण कर ले गया। इसी अपमान का बदला लेने के लिए उसने गौरी को निमंत्रण देकर बुलाया था।

इस दुर्बुद्धि को क्या कहा जाय ? व्यक्तिगत अपमान के क्रोध में अंधा होकर उसने सारे देश पर संकट ला दिया था। अपने इस अविवेक के कारण आज भी उसका नाम घृणा के साथ लिया जाता है।

कवि चंद उससे व्यक्तिगत रूप से मिले, पृथ्वीराज के दूत के रूप में नहीं, उन्होंने उसे बहुतेरा समझाया कि दिल्ली की देहरी टूट जाने पर फिर मुस्लिम आक्रमण की आँधी को रोकना किसी के बस में नहीं होगा। यह पृथ्वीराज पर नहीं सारे भारत पर आक्रमण हो रहा है। राज्यों पर नहीं हमारे धर्म व संस्कृति पर आक्रमण हो रहा है। जिस प्रकार बंगाल और विंध्याचल प्रदेश तक के राजा अपने धर्म व संस्कृति की रक्षा के लिए एक होकर उस म्लेच्छ से लड़ने के लिए कटिबद्ध हो गए हैं, वैसे ही वह भी तैयार हो जाय।

कवि चंद्र की बातों का उस पर प्रभाव तो पड़ा किन्तु उसे भी पृथ्वीराज की तरह ही अपने सैन्यबल पर गर्व था। वह अकेला ही गौरी को दस बार हराने में अपने को सक्षम समझता था। अतः उसने युद्ध में पृथ्वीराज के साथ रहकर युद्ध करने से इन्कार कर दिया।

समस्त उत्तरी भारत के राजाओं की अस्सी हजार से भी ऊपर सेना योगिनी पुर के पास शहाबुद्दीन का मुकाबला करने के लिए आ जुटी थीं। उनके प्रतिनिधि के रूप में चित्तौड़ के रावल समर विक्रम पृथ्वीराज के पास उसका सेनापतित्व ग्रहण करने का अनुरोध करने आ उपस्थित हुए। कवि चंद्रवरदायी ने उनका स्वागत किया। उन्होंने कवि से कहा-

"सम्राट पृथ्वीराज के पास संदेश पहुँचा दीजिए कि योगिनीपुर के निकट अस्सी हजार सैनिकों की विशाल वाहिनी उनके नेतृत्व की प्रतीक्षा कर रही है।"

"यह संदेश हम दोनों को स्वयं उन तक पहुँचाना होगा।"

वे समर विक्रम जी को साथ लेकर अंतःपुर की ड्योढी पर पहुँचे। भीतर खबर पहुँचायी। उत्तर मिला-"अभी नहीं।"

"अभी नहीं तो कभी नहीं ।"-कवि ने यह कहते हुए एक दोहा उसके लिए लिख भेजा-

"कग्गर अप्पह राज कर, मुँह जप्पह इंह बत्त ।
गौरी रत्तो तुअ धरनी, तू गौरी रस रत्त ।"

(इस हास-विलास के लिए पूरा जीवन पड़ा है । गौरी की लोलुप दृष्टि तेरी मातृभूमि पर गढ़ी है और तू नारी के स्थूल सौंदर्य में मुग्ध हो अपने कर्तव्य से विमुख हो रहा है ।)

पृथ्वीराज ने पत्र को पढ़ा तो लज्जा से उसका मुँह उतर गया । वह लपक कर बाहर आया । उसने दोनों से अपनी भूल की क्षमा माँगी और युद्ध की तैयारी में लग गया । चामंड की बेड़िया कटवाने व काका कन्ह की आँखों की पट्टी खोल देने के आदेश देकर वह कवि चंद की ओर उन्मुख हुआ-

"कवि राजा ! तुमने निश्चय ही मुझे उबार लिया । मेरी इतनी उपेक्षा के बाद भी तुमने अपना उद्योग बंद नहीं किया । रावल जी ठेठ चित्तौड़ आए हैं अपने देश की रक्षा के लिए और मैं अभागा ।"

"मैं ही नहीं उत्तरी भारत के कितने ही राजा अपनी सेनाओं सहित योगिनी पुर के निकट आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं । अस्सी हजार के लगभग भारतीय वीर गौरी के दाँत खट्टे करने के लिए वहाँ सन्नद्ध हैं । यह सब इन्हीं के प्रयासों का फल है ।"

"अब तुम अपनी साहित्य साधना करो मित्र !"

"नहीं, मैं भी अपनी मातृभूमि का ऋण चुकाने आपके साथ युद्ध क्षेत्र में चल रहा हूँ ।"

सम्राट पृथ्वीराज तथा महारावल समर विक्रम इस नर पुंगव को देखते ही रह गए जो इस नव जागरण का अकेला सूत्र संचालक था, जिसने निराशा में आशा के दीप जलाए थे ।

'विक्रमादित्य' हेमू
जिन्होंने राष्ट्ररक्षा के लिए तलवार थामी

भारत धन, धान्य और स्वर्ण से भरा-पूरा देश है । इस तथ्य से परिचित हो यहाँ की सुख, समृद्धि पर डाका डालने के लिए क्रमश: यूनानी, शक, हूण, पार्थियन, मुसलमान और अंग्रेज आए । सदियों तक भारत माँ के लाड़ले सपूत अपने देश की, अपने धर्म की, अपनी संस्कृति और जातीय स्वाभिमान की रक्षा के लिए इन स्वार्थी बर्बरों से लोहा लेते रहे ।

धन और धरती तो शूरों की होती है । नर-रत्न गर्भा माँ भारती की कोख से ऐसे कितने ही सपूत उपजे थे जिन्होंने इसकी विदेशियों की रक्षा करने के लिए महान उद्योग और प्रबल पुरुषार्थ किया । विक्रमादित्य हेमू उन्हीं नर पुंगवों में से एक थे जिन्होंने समय की पुकार पर अपने धर्म, कर्तव्य को निभाया ।

अपने को अमीर तैमूर का वंशज कहने वाला राज्य लिप्सु, धन लिप्सु बाबर भी भारत के वैभव की कहानियां सुनकर भारत आया । तैमूर स्वयं एक लुटेरा था उसका वंशज क्या उससे कम होता ? दिल्ली पर उन दिनों सिकंदर लोदी नामक बादशाह राज्य करता था । यह बाबर के सामने टिक नहीं सका । पानीपत के मैदान में उसे करारी हार मिली । मेवाड़ पर उन दिनों प्रतापी हिन्दू राजा महाराणा साँगा राज्य करते थे । उन्होंने ठेठ फतेहपुर सीकरी के पास खानवा के मैदान में जाकर बाबर नामक आँधी को रोका । महाराण सांगा के आह्वान पर कितने ही राजपूत राजा एकत्र होकर राष्ट्र की रक्षा के लिए खानवा के मैदान में जा डटे । बाबर के पास नयी किस्म के अस्त्र-तोपें व बंदूकें, जो दूर से मार सकती थीं, होते हुए भी उसकी सेना राजपूतों के आगे टिक न सकीं और भाग खड़ी हुईं । भागती हुई सेना का पीछा करना भारतीय वीरों ने उचित नहीं समझा, वे विजयोत्सव मनाने लगे । किन्तु बाबर अपने सपनों को यों चूर-चूर नहीं होने देना चाहता था । वह अपने लुटेरे साथियों को पुन: संगठित कर असावधान राजपूतों पर चढ़ बैठा । वे बड़ी वीरता से लड़े पर ब्यूह रचना टूट जाने से उनकी पराजय हुई । पर बाबर भी उससे आगे बढ़ने की हिम्मत न कर सका ।

महाराणा सांगा युद्ध में बुरी तरह घायल हुए । वे स्वस्थ होकर इस पराजय के

कलंक को धोने की तैयारी में लगे पर वे इस युद्ध के कुछ समय बाद ही दिवंगत हो गए । उनका पुत्र उदय सिंह उनकी तरह पराक्रमी नहीं निकला कि उस पराजय का बदला चुकाता ।

ऐसे विकट समय में जब चारों ओर अंधकार छाया हुआ था कोई क्षत्रिय राजा ऐसा नजर नहीं आता था जो कि बाबर अथवा उसके वंश को पुनः पराजित करके उस अपमान का बदला चुकाता व पुनः हिन्दू राज्य की स्थापना करके सुशासन स्थापित करता । समय के इस धर्म को, चुनौती को जिस व्यक्ति ने स्वीकारा था वह था हेमू-हेमचंद्र, जिसकी सात पुश्त तो क्या पूरे वंश में किसी ने तलवार को हाथ नहीं लगाया था । वणिक पुत्र हेमू के पुरखे वैश्य थे । व्यापार करना और धन की वृद्धि करना, हिसाब-किताब रखना यही थे उनके कर्म । युद्ध क्या होता है, विजय कैसे मिलती है और पराजय क्या होती है उन्हें पता ही न था । पर हेमू भला चुप कैसे बैठता ।

उसके पुरखों ने काफी धन सम्पदा एकत्र कर रखी थी । वे दिल्ली सम्राट के मुख्य कोषाधिकारी हुआ करते थे । हेमू भी दिल्ली दरबार में प्रधानमंत्री रह चुके थे । उन्होंने मुगलों को भारत से मार भगाने का निश्चय कर लिया । अनेकों छोटे-छोटे हिन्दू राजाओं से उनका परिचय था । संगठन की शक्ति से तो वे परिचित थे ही । अपनी सारी सम्पदा को उन्होंने देश की स्वाधीनता के लिए अर्पित करके अपनी एक सैना तैयार कर ली । छोटे-छोटे राजाओं को मिला अपने भगवा झंडे तले आकर विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने की तैयारी कर ली ।

विदेशी आक्रमणकारी बाबर अधिक समय तक जीवित नहीं रहा । उसकी मृत्यु के उपरांत उसके पुत्रों में राज्य प्राप्ति के लिए संघर्ष चला । चलता क्यों नहीं स्वार्थी और लुटेरों के वंशजों से और आशा ही क्या की जा सकती थी । भाइयों की हत्या करके और पिता को बंदी गृह में डालकर राज्य करने की परम्पराएं इसी वंश में चलती रही थीं । बाबर का पुत्र हुमायूँ उसकी तरह वीर नहीं था । उसके भाई कामरान ने उससे विद्रोह किया । गृह कलह के कारण उसे ईरान भाग जाना पड़ा ।

इस स्थिति को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयुक्त जान हेमू ने अपनी शक्ति और संगठन की गतिविधियाँ और तेज कर दीं । देखते ही देखते उसके पास एक विशाल सेना संगठित हो गयी । हेमू ने अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को

पूरी करने के लिए वैश्य धर्म से क्षत्रिय धर्म अंगीकार कर सैन्य संगठित नहीं की थी वरन् मुगलों को भारत से बाहर निकालने के ध्येय की पूर्ति के लिए ऐसा किया था। अतः उन्हें सहयोगियों की कमी नहीं रही।

अवसर हाथ लगते ही उन्होंने दिल्ली पर धावा बोल दिया। उनकी विजय हुई। दिल्ली का सिंहासन पुनः भारतीय राजा के हाथ में आ गया। उस पर भगवा रंग की धर्म ध्वजा फहराने लगी। यह वह समय था जब शेरशाह सूरी का पतन हो चुका था। हुमायूँ की मृत्यु हो चुकी थी। उसका पुत्र अकबर बैरमखां के संरक्षण में बड़ा हो रहा था।

दिल्ली को हस्तगत कर लेने पर हिन्दू राजाओं ने अपने इस वीर नायक को ही सम्राट मान लिया। वे उसके मांडलिक बने। हेमू को 'विक्रमादित्य' की उपाधि से विभूषित किया गया। दिल्ली से आगरा तक का प्रदेश अब उनके अधिकार में आ चुका था। वहाँ से मुगल सेना भाग खड़ी हुई थी।

हेमू ने सिंहासन पर बैठकर राज्य को सुव्यवस्थित किया। थोड़े वर्षों के ही सही पर इस सुशासन में प्रजा ने अनुभव किया कि विदेशी शासकों से यह स्वदेशी शासन हजार गुना अच्छा था। हमारे देश का इतिहास व्यक्तिगत महानता की दृष्टि से तो बड़ा ऊँचा ठहरता है पर जहाँ राष्ट्रीयता की भावना और जन सामान्य की बात है इस दृष्टि से भारतवासी कमजोर ही रहे हैं। राणा सांगा के बाद जिस प्रकार हेमू ने राजाओं को संगठित कर एक स्वदेशी शक्ति गठित की वह उनकी मृत्यु के बाद स्थिर न रह सकी।

'विक्रमादित्य' हेमू ने अपने छोटे से जीवन काल में पंद्रह से अधिक लड़ाइयाँ लड़ीं। उन्होंने निर्णायक युद्ध पानीपत के मैदान में अकबर से लड़ा। अकबर बड़ी विकट स्थितियों में पलकर बड़ा हुआ था। उसे पढ़ने का अवसर भी नहीं मिला था। इसका कारण हेमू द्वारा मुगलों का दिल्ली से आधिपत्य समाप्त कर देना था। सच पूछा जाय तो ये विदेशी बर्बर राज्य लिप्सु अपनी वीरता के बल पर भारतीयों से नहीं जीते थे वरन् इनकी बर्बरता व धोखेबाजी से ही उन्होंने वीर भारतीयों पर अल्पकाल के लिए आधिपत्य भर जमाने में सफलता प्राप्त की थी। पानीपत के युद्ध में विक्रमादित्य हेमू काम आए। सेनापति के मरते ही सेना में भगदड़ मच गयी इस कारण अकबर जीत गया और वह दिल्ली का बादशाह बना।

अकबर ने अपने साम्राज्य को भेद-नीति से बढ़ाया वीरता से नहीं। राजपूत राजाओं की फूट और अहमन्यता पर ही उसका मुगल साम्राज्य विस्तरित हुआ। यद्यपि हेमू को अपने ध्येय में अल्पकाल तक ही सफलता मिली थी पर इतने समय तक ही सही वे सूर्य की तरह विदेशी शासन के तिमिर को चीरते रहे। इस साहस, पराक्रम व पुरुषार्थ के लिए वे आज भी चिरस्मरणीय, अनुकरणीय बने हुए हैं।

मुगल राज्य के हिन्दू प्रशासक
टोडरमल

१५८९ में सम्राट अकबर जब कश्मीर गया तो सवाल उठा कि राज-काज किसकी देखरेख में सौंपा जाय। यों उसके पास एक से एक योग्य और दक्ष अधिकारी थे। नवरत्नों के नाम से अपने पास अकबर ने प्रतिभाशाली विद्वान और योग्य व्यक्तियों को एकत्रित कर रखा था। परंतु अकबर को सबसे अधिक विश्वसनीय लगे दीवान-ए-अशरफ टोडरमल। उसने सारा शासन प्रबंध टोडरमल की देख-रेख में छोड़ दिया।

दूसरे विद्वानों को टोडरमल की इस प्रतिष्ठा से जलन हुई। कोई भी व्यक्ति साधारण स्थिति से परिश्रम और पुरुषार्थ के बल पर ऊँचा उठता है, तो अच्छे लोग ईर्ष्या करने लगते हैं। टोडरमल प्रारंभ से ही इन परिस्थितियों का सामना करते आए थे इसलिए उन्हें चिंता नहीं हुई। वे सौंपे गए उत्तरदायित्व को निश्चिंतता पूर्वक पूरा करते रहे।

टोडरमल का जन्म उत्तरप्रदेश के लहरपुर गाँव में हुआ। उनका परिवार सम्पन्न स्थिति का नहीं कहा जा सकता। फिर भी टोडरमल अपने आस-पास घटने वाली घटनाओं का सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करना सीख गए। इसी प्रकार उनकी बुद्धि का विकास हुआ।

उस समय राज्य के अधिकारी गण किसानों से कर वसूल करने के लिए ज्यादतियाँ किया करते थे। टोडरमल ने यह सब देखा तो और विचार किया।

उन्होंने पहली बार बौद्धिक प्रतिभा का परिचय दिया । अधिकारियों को उनसे ऐसे सुझाव और परामर्श मिले कि राज्यकोष में भी अधिक धन इकट्ठा हुआ और कृषक भी ज्यादतियों से बच गए । अन्य वर्षों की अपेक्षा इस वर्ष ज्यादा धन इकट्ठा हुआ । इसके समाचार अकबर तक पहुँचे और वह बड़ा प्रभावित हुआ । युवक टोडरमल को अकबर ने अपने राज्य-शासन में अच्छा पद और सम्मान दिया । बौद्धिक क्षमता के बल पर सामान्य स्थिति में भी अच्छा सम्मान, प्रतिष्ठा, ख्याति और अधिकार प्राप्त किया जा सकता है ।

सन् १५७३ में अकबर ने टोडरमल को भूमि प्रबंध के लिए गुजरात भेजा । वहाँ उन्होंने सारी जमीन की नाप-जोख करवायी और जमीन की किस्म, क्षेत्रफल तथा पैदावार के हिसाब से मालगुजारी की दरें निश्चित कीं । इस नयी व्यवस्था से शासन और किसान दोनों को ही लाभ पहुँचा । हमेशा मालगुजारी की बसूली के अवसर पर पैदा होने वाली अशांति दो वर्षों में ही समाप्त हो गयी । टोडरमल की इस सूझ-बूझ से प्रभावित होकर अकबर ने पूरे साम्राज्य की भूमि का प्रबंध टोडरमल को सौंप दिया ।

छोटी सफलताएं प्राप्त कर लेने के बाद और बड़े उत्तरदायित्व निभाने की पात्रता मिल जाती है और उसे भी अच्छी प्रकार निभाकर बुद्धिमान व्यक्ति अपनी योग्यता का विकास करते रहते हैं । टोडरमल ने सारे राज्य का भूमि प्रबंध नये सिरे से करने के लिए सम्पूर्ण साम्राज्य को १८२ परगनों में बाँटा । प्रत्येक परगने के लिए एक अफसर नियुक्त किया गया जिसे करोड़ी कहा जाता था ।

परगने के लगान की रकम हाथ में आने के कारण करोड़ी लालची होते गए । वे किसानों से मनमाना कर वसूल करने लगे । इन मनमानियों की शिकायत टोडरमल और अकबर तक पहुँची । अकबर ने उन्हें दीवाने-अशरफ मालगुजारी का सर्वोच्च अधिकारी नियुक्त किया । दीवाने-अशरफ के इस पद पर रहकर उन्होंने विभाग में आवश्यक सुधार किए ।

लालची करोड़ियों को कठोर दंड दिया गया । कईयों को आजन्म कारावास मिला । टोडरमल ने जमीन की नपाई के लिए रस्सियों का प्रयोग किया था । वे रस्सियाँ पानी में भिगाने से सिकुड़ जाती थीं और करोड़ी इसी प्रकार की चालाकियाँ करते थे । टोडरमल ने रस्सी के स्थान पर लोहे के कड़ों से जरीबें तैयार करवायीं ।

थोड़े बहुत परिवर्तन से इसी प्रकार की जरीबें अब भी प्रयोग में लायी जाती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि बेईमानी, अनैतिकता और हरामखोरी को रोकने के लिए पतितों को आतंकित करने के लिए संभावनाओं को निर्मूल करने का ही व्यवहारिक तरीका अपनाया।

सुप्रबंध क्षमता और कार्यदक्ष होने के कारण सम्राट अकबर का अन्य चापलूस दरबारियों के जलते रहने के बाद भी टोडरमल अपना विश्वास बढ़ाता गया। टोडरमल ने भी खुशामद और अनावश्यक चाटुकारिता का ओछा और अयोग्यों द्वारा अपनाया जाने वाला तरीका छोड़कर विशुद्ध कर्मठता, लगन और परिश्रम का मार्ग चुना। यहाँ तक कि जब अकबर के चलाये धर्म दीन-ए-इलाही को कई दरबारी स्वीकार कर चुके थे, टोडरमल से इस विषय में राय जानने पर उन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया। धर्म के संबंध में टोडरमल कट्टर हिन्दूवादी थे। वे घर पर परम्परागत पोषाक धोती-कुर्ता ही धारण करते। दोनों समय संध्या-उपासना और पूजा-पाठ नियमित रूप से किया करते। जब तक नित्य कर्मों से निवृत्त नहीं हो जाते उन्हें चैन नहीं मिलता।

बादशाह की धार्मिक असहिष्णुता का त्याग करने में उनका बड़ा हाथ था। उन्होंने चल रहे जजिया कर को इस आधार पर हटाने की सलाह दी कि मात्र हिन्दू होने के कारण वर्ग विशेष से किसी प्रकार का कर वसूल करना अवांछनीय है। उनके इस तार्किक प्रतिपादन को समझकर ही अकबर ने जजिया कर हटाया था। यही नहीं हिन्दुओं को शासन में उचित स्थान देकर उन्हें अपना बनाने का प्रयास भी किया।

तत्कालीन शासन की उदार धर्म नीति के मूल कारण टोडरमल से इसी कारण कई लोग जला करते थे। वे धर्म उदार चेता धर्मानुयायी थे। साम्प्रदायिक पक्षपात को अनुचित ठहराते हुए अपने विभाग और प्रशासन में भी योग्यता और प्रतिभा को संयुक्त करने की परम्परा चलायी। फलस्वरूप शासन व्यवस्था में भी इसके सत्परिणाम सामने आये।

टोडरमल केवल प्रबंध और व्यवस्था में ही नहीं अन्य क्षेत्रों में भी कुशल थे। अर्थ व्यवस्था में संबंध में सफल और दक्ष होने के साथ-साथ वे वीर सेनापति भी थे। अकबर ने कई बार उन्हें युद्ध के मोर्चों पर लड़ने के लिए भेजा था। उन्होंने

उस समय जो वीरता और शौर्य प्रदर्शित किया वह उनकी बहुमुखी प्रतिभा का ही प्रतीक है । राजधानी से दूर होने के कारण बंगाल में प्रायः विद्रोह हुआ करते थे । जिसे दबाने के लिए टोडरमल को ही भेजा । चार वर्ष तक कठोर परिश्रम कर उन्होंने बंगाल में स्थायी शांति कायम की । गुजरात के सुल्तान जफर को भी उन्होंने ही पराजित किया ।

सैन्य-व्यवस्था में मनसबदारी प्रथा की विकृतियों को समाप्त करने का श्रेय भी टोडरमल को ही था । उस समय सम्राट वेतनभोगी मनसबदार नियुक्त किया करता था । ये मनसबदार कालांतर में भ्रष्टाचारी बन गए । टोडरमल ने सम्राट को भ्रष्टाचार जड़ मूल से उखाड़ फेंकने के लिए बहुमूल्य परामर्श दिए । जिनके परिणामस्वरूप स्वस्थ परम्पराएं बन सकीं ।

जन हितकारी, स्वच्छ और न्यायपूर्ण शासन व्यवस्था ही टोडरमल का लक्ष्य था । जिसे उन्होंने जीते जी प्राप्त कर लिया । अनुशासन और व्यवस्था अच्छे राज्य के दो आवश्यक तत्व हैं । जिनकी प्रतिष्ठापना के लिए टोडरमल ने स्वयं के जीवन की आहुति दे दी और इसी के लिए मृत्यु का वरण भी किया । उनकी हत्या सन् १५८९ में एक व्यक्ति ने कर दी थी । जिसे उन्होंने किसी अपराध के कारण दंडित किया था ।

कर्तव्य-पालन उनकी दृष्टि से सबसे बड़ा धर्म था । वृद्धावस्था के कारण कार्य करने में असमर्थ हो जाने के कारण उन्होंने तीर्थयात्रा का निश्चय किया । उन्होंने राज-काज से अवकाश ग्रहण कर हरिद्वार जाना चाहा । अकबर ने तीर्थ यात्रा का प्रबंध कर दिया और वे चल दिए । मार्ग में ही उन्हें समाचार मिला कि ऐसे काम के लिए जिसे कोई और नहीं कर सकते हैं उनकी आवश्यकता है । टोडरमल अपनी यात्रा को बीच में ही छोड़ कर वापस आ गए और संबंधित कार्य देखने लगे । इसके कुछ समय बाद ही एक सजातीय व्यक्ति ने उन्हें मार डाला । जिन्होंने अपने विचारों से सम्राट को भी प्रभावित कर लिया वे अकबर के सबसे बड़े और योग्य व्यवस्थापक के रूप में अलग नाम से सदैव अमर रहेंगे ।

मेवाड़ के भीष्म

राजकुमार चूड़ामणि

जोधपुर नरेश राव रणमल का राज पुरोहित टीका नारियल लेकर मेवाड़ के राज दरबार में उपस्थित हुआ । मेवाड़ की यश कीर्ति उन दिनों अपने यौवन पर थी । महाराणा कुम्भा के गुजरात विजय की बात अभी पुरानी नहीं पड़ी थी । उस विजय की स्मृति में बनाए जय स्तंभ की नूतनता पर आतप शीत और वर्षा का प्रभाव भी परिलक्षित नहीं हो पाता था । व्योम वर्णी प्रस्तरों की कांति अभी धूमिल नहीं पड़ी थी ।

मेवाड़ के राज सिंहासन पर बीरवर कला प्रेमी महाराणा कुम्भा के पुत्र महाराणा लाखा आसीन थे । महाराणा कोई पचास वसंत देख चुके थे । उनके ज्येष्ठ पुत्र राजकुमार चूड़ामणि भी पच्चीस के आसपास पहुँच चुके थे । उनके शौर्य और सच्चरित्रता की कहानियाँ राजघरानों में विकसते पाटल की सुरभि सी फैल रही थी । उसी को सुनकर जोधपुर नरेश ने अपनी कन्या बिंदुमती का हाथ उनके लिए प्रेषित किया था । इसी प्रयोजन से जोधपुर राज्य के राज पुरोहित मेवाड़ के यश-वैभव के अनुरूप ही भेंट के साथ यह रिश्ता लेकर पहुँचे थे ।

दरबार लगा हुआ था । सोलह बत्तीसी उमराव अपने-अपने स्थानों पर बैठे थे । महाराणा के सिंहासन से थोड़ा हटकर कुछ नीचाई पर युवराज राजकुमार चूड़ामणि का आसन था । वे उस पर आसीन थे । उगते सूरज का सा उनका प्रखर व्यक्तित्व सभी को और भी गरिमा प्रदान कर रहा था । महाराणा लाखा यों पचास के हो चले थे पर दीखते पैंतीस के आसपास ही थे । मुख मंडल पर वैसा ही कसाव था जैसा प्राय: युवकों के चेहरे पर होता है । उनकी भरी हुई दाढ़ी और मस्तक पर पड़ी रेखाएं भले ही उनकी आयु का प्रदर्शन कर रही हों पर स्वास्थ्य की दृष्टि से वे युवा सदृश्य ही थे ।

राव रणमल के राज पुरोहित ने अभिवादन, अभ्यर्थना के पश्चात अपने आगमन का प्रयोजन बताया तो महाराणा लाखा के मुख मंडल पर मुस्कान खिल आयी । वे हँसते हुए बोलें "हम जानते हैं पुरोहित जी ! राव रणमल अपनी कन्या का रिश्ता युवक राजकुमार चूड़ामणि के लिए नहीं तो क्या हम जैसे वृद्धों के लिए

भेजेंगे ।" उन्होंने यह बात कही तो हँसी में थी, पर जब वे यह बात कह रहे थे राजकुमार चूड़ामणि की दृष्टि उनके मुख मंडल पर ही जमी हुई थी । अपने वृद्ध होने के अहसास के प्रकटीकरण के समय मानव की स्वभावगत दुर्बलता उनकी आँखों में रक्तिम डोरों के रूप में उभर आयी थी । यदि वे भी युवा होते तो उनका भी विवाह उस नव यौवना से हो जाता । पिता की यह दुर्बलता राजकुमार से छिपी न रही । अत: इसके पहले कि महाराणा इस संबंध में अपना मत प्रकट करते राजकुमार बोल उठे-

"अन्नदाता ! जब आपने राव रणमल जी की सुपुत्री के संबंध में ऐसी बात कही तो वे मेरे लिए माता के तुल्य हो गयी हैं । अब मैं उन्हें पत्नी रूप में कैसे स्वीकार कर सकता हूँ । आप अपने लिए ही इस संबंध को स्वीकार कर लें ।" राजकुमार का यह कथन सुनकर सभा में सन्नाटा छा गया । इस अप्रत्याशित घटना पर सभी हतप्रभ रह गए । महाराणा धर्म संकट में पड़ गए । राव रणमल के प्रतिनिधि किंकर्तव्यविमूढ़ से कभी राजकुमार की ओर ताकते और कभी महाराणा की ओर ।

"हमने तो यह बात हँसी में कही थी, राजकुमार ! तुम्हें इसे इतनी गहराई से नहीं लेना चाहिए ।"

"क्षमा करें अन्नदाता ! आपने किसी भी रूप में कहा हो अब वे मेरी माता बन चुकीं ।"

राव रणमल का प्रतिनिधि भी राजनीति कुशल और व्यवहार कुशल व्यक्ति था । वह अपने महाराज से पूरी बात करके ही आया था । वे अपनी पुत्री को मेवाड़ की महारानी बनाना चाहते थे । पुरोहित को दूर की सूझी क्यों न राजकुमारी को मेवाड़ की महारानी ही नहीं राजमाता भी बना दिया जाय । उसने महाराणा से निवेदन किया-

"महाराज ! हमारे महाराज ने युवराज और राजकुमारी जी के संबंध का प्रस्ताव इसलिए भेजा है कि वे मेवाड़ के भावी महाराणा हैं । क्षमा करें महाराज, यदि युवराज के कथनानुसार आप राजकुमारी जी से विवाह कर भी लें तो आपके बाद में राज्य के स्वामी तो युवराज होंगे, हमारी राजकुमारी जी की कोख से उत्पन्न राजकुमार नहीं ।"

राज पुरोहित की यह अर्थ भरी बात सुनकर राजकुमार चूड़ामणि बोले-"आप

निश्चित रहें पुरोहित जी, आपकी राजकुमारी जी की कोख से जो बालक उत्पन्न होगा वही मेवाड़ का महाराणा बनेगा । मैं ईश्वर को साक्षी रखकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि मेवाड़ के राज्य सिंहासन का न तो मैं कभी दावेदार बनूँगा और न मेरी संतान ही । मैं अपना युवराज पद छोड़ता हूँ ।

तिनके की भांति इतने विशाल और समृद्ध राज्य का उत्तराधिकार छोड़ने वाले राजकुमार चूड़ामणि की ओर सभी सभासदों की दृष्टियाँ उठ गयीं । राजकुमार के चेहरे पर मुस्कान खेल रही थी, त्याग का अपूर्व सुख उस पर आभा बनकर विराज गया था । महाराणा ने अपने पुत्र की ओर देखा और बोले-"युवराज ! तुम एक बार फिर सोच लो । हमें पता होता कि हँसी-हँसी में कही गयी बात की ऐसी प्रतिक्रिया होगी तो हम वैसा कभी नहीं कहते । आये हुए टीके को फेरने में हमारी ही हेठी नहीं होगी जोधपुर महाराज भी अपना अपमान समझेंगे । ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते राज्य के अधिकारी तुम्हीं हो । तुम्हारी योग्यता और वीरता पर हमें भरोसा भी है । मेवाड़ का हित इसी में है कि तुम्हीं हमारे पश्चात महाराणा बनो । ऐसी स्थिति में हम धर्म संकट में पड़ गए हैं ।"

"आप चिंता न कीजिए महाराज ! जब तक चूड़ामणि जीवित है मेवाड़ के गौरवचंद्र को कोई राहू ग्रस नहीं सकता । शासन के प्रबंध में सिर कटाने की बात हो तो मैं आधी रात को तैयार हूँ पर सिंहासन पर बैठने की बात अब नहीं बनेगी ।"

राजकुमार की इस भीष्म प्रतिज्ञा पर सभी विस्मित चकित थे । इस त्याग के कारण उन्होंने वह श्रेय सम्मान पा लिया था जो मेवाड़ के राज्य सिंहासन से भी उच्च था, ऐसी कीर्ति पायी थी जिसकी प्रभा कभी धूमिल होने वाली नहीं थी ।

जोधपुर नरेश का अपमान न हो इसलिए महाराणा लाखा ने जोधपुर की राजकुमारी बिंदुमती से विवाह कर लिया । वे मेवाड़ की महारानी बनीं । विवाह के कुछ ही वर्ष पश्चात उनके मोकल नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ । मोकल आठ वर्ष का भी नहीं हो पाया था कि महाराणा लाखा का देहावसान हो गया ।

अल्पवयस्क मोकल को महाराणा के पद पर अभिषिक्त किया गया । राजकाज माता बिंदुमती देखती थीं । राजकुमार चूड़ामणि उनकी सहायता करते थे । एक प्रकार से राज्य का सारा प्रबंध वे ही किया करते थे । काम तो वे करते थे, महाराणा पद पर मोकल आसीन थे । राजमाता बिंदुमती को उन पर पूरा विश्वास था ।

राजकुमार के त्याग ने उनके हृदय में बहुत ऊँचा स्थान बना लिया था। वे उन्हें बहुत मानती थीं।

किन्तु जोधपुर नरेश राव रणमल के मन मस्तिष्क में कुछ और ही खिचड़ी पक रही थी। वे मेवाड़ को अपने पेरों के नीचे करने की घृणित कामना को सफल करने में लगे हुए थे। उन्होंने अपने कुचक्र चलाने आरंभ कर दिए। राजमाता बिंदुमती के मन में उन्होंने राजकुमार चूड़ामणि के प्रति अविश्वास उत्पन्न करना आरंभ कर दिया। पहले तो उन्होंने उनकी बातों पर विश्वास नहीं किया पर अपने पिता द्वारा बार-बार उसी बात को दोहराने पर वे भी उन पर शंका करने लगीं। यद्यपि उनकी शंका निराधार थी। राव रणमल राजकुमार चूड़ामणि को मेवाड़ से बाहर निकलवा कर अपने मार्ग का काँटा दूर करना चाहते थे।

राजमाता बिंदुमती ने भी अपने पिता की बातों पर विश्वास करके राजकुमार चूड़ामणि से परामर्श लेना बंद कर दिया। राज्य के जिम्मेदार पदों पर उन्होंने अपने पिता की राय के अनुसार उनके अपने आदमी नियुक्त करने आरंभ कर दिए। राजकुमार चूड़ामणि ने उन्हें सचेत किया कि ऐसा करने से हमारे भेद बाहर चले जाएँगे। इस पर राजमाता ने उन्हें कटु वचन कहे-"राजकुमार ! आप मोकल के स्थान पर अपने आपको महाराणा बनाना चाहते हो इसीलिए ऐसी बातें कह रहे हो। हम स्वयं जैसे होते हैं हमें दूसरे भी वैसे ही दिखाई देते हैं। मैं आपका यहाँ मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़गढ़ में रहना आवश्यक नहीं समझती। आप यहाँ से चले जाइये।"

राजकुमार चूड़ामणि राजमाता के ये वचन सुनकर बहुत दुखी हुए। उन्होंने अपने अपमान को पी लिया और बोले-"यदि आपको मेरे मन में खोट लगता है तो मैं यहाँ नहीं रहूँगा। मैं सलुम्बर के बीहड़ प्रदेश में चला जाता हूँ पर आप इतना याद रखें महाराणा मोकल पर कोई संकट आये तो मुझे सूचित किए बिना न रहें।"

राजकुमार चूड़ामणि अपने परिवार और थोड़े से साथियों सहित सलुम्बर के पर्वतीय प्रदेशों में चले गए। उनके चले जाने पर राव रणमल को खुलकर खेलने का अवसर मिल गया। राजमाता उन्हें अपना और महाराणा मोकल का शुभचिंतक ही समझती रहीं। पर जब उनके पिता का वास्तविक स्वरूप उजागर हुआ तो वे काँप उठीं। अब उनके हाथ में कुछ नहीं रहा था। राव रणमल के विश्वासपात्र सामंत

दायित्वपूर्ण पद सम्हाले बैठे थे । वास्तविक सत्ता उन्हीं के हाथ में थी । अल्प वयस्क महाराणा मोकल के प्राणों पर कभी भी संकट आ सकता था । अब उन्हें अपनी भूल ज्ञात हुई । राजकुमार चूड़ामणि के उच्चादर्श समन्वित उच्च चरित्र पर विश्वास न कर उन्होंने अपने पिता पर रक्त के रिश्तों पर विश्वास किया, जो झूठा निकला ।

इस संकट की घड़ी में उन्होंने एक दूत के हाथ राजकुमार चूड़ामणि के पास संदेश भेजकर महाराणा मोकल की रक्षा करने की प्रार्थना की । राजकुमार चूड़ामणि को इसी बात की आशंका थी । उन्होंने उस स्थिति से निपटने की तैयारी भी कर रखी थी । सलुम्बर रहकर उन्होंने अपना सैन्य बल भी बढ़ा लिया था । राजमाता का संदेश पाते ही वे सदल-बल चित्तौड़ के लिए कूच कर गए । गुप्त मार्ग से दुर्ग में प्रविष्ट होकर उन्होंने महाराणा मोकल की सुरक्षा का समुचित प्रबंध किया । फिर सोलह बत्तीसी सरदारों से मंत्रणा की । सबने मिलकर राव रणमल के सामंतों का सफाया कर दिया ।

मानापमान की परवाह न करते हुए उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा, अपने कर्तव्य का पालन किया । जब तक मोकल वयस्क नहीं हुए उन्होंने उनका संरक्षण किया । तदनंतर वे पुनः सलुम्बर चले गए । 'व्यक्ति का चरित्र और उसकी उच्च भावनाएं ही उसे महान और यशस्वी बनाती हैं, पद-सम्मान नहीं ।' राजकुमार चूड़ामणि के व्यक्तित्व और कर्तृव्य में यह तथ्य प्रखर रूप में उद्भासित हुआ है । उनके त्याग ने उन्हें ही नहीं उनके वंशजों को भी अक्षय गौरव प्रदान किया । उनके वंशज जो 'चूड़ावत' कहलाते थे, की सहमति के बिना कोई मेवाड़ के सिंहासन पर आसीन नहीं हो सकता था । इस मर्यादा का प्रचलन राजमाता बिंदुमती ने ही किया था राजकुमार चूड़ामणि की कीर्ति को स्थायी बनाने के लिए । उस परम्परा का पालन अंत तक होता रहा । राजकुमार चूड़ामणि अपने इस त्याग के कारण सदा सर्वदा के लिए आदर्श बन चुके हैं । आज भी कोई यश पाना चाहे तो उसका मार्ग वही है जो उन्होंने चुना था ।

स्वराज्य के संस्थापक
छत्रपति शिवाजी

महत्वाकांक्षी व्यक्ति हर युग में हुए हैं । प्रगति की कामना और उत्कर्ष की महत्वाकांक्षा मानव का स्वभाव है । इस स्वभाव की सहज प्रेरणा से हर युग में व्यक्ति अपनी सामान्य से भी सामान्य स्थिति से ऊपर उठकर प्रगति के शिखर पर चढ़े हैं । मध्य युगीन सामंत शाही में भी कई व्यक्ति सामान्य से सिपाही से प्रगति करते हुए सम्राट बने हैं । शिवाजी भी उसी युग में पैदा हुए थे और सामान्य से जागीरदार से महाराष्ट्र छत्रपति बने थे । किन्तु वे उस युग का प्रतिनिधित्व नहीं करते । उनका महान व्यक्तित्व काल की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता । वे युग की पुकार को, समय की आवश्यकता को पूरा करने वाले उद्योगी महापुरुष थे । उनके राजा बनने के पीछे व्यक्तिगत महत्वकांक्षा नहीं वरन् जातीय व राष्ट्रीय स्वाभिमान को जागृत करके स्वराज्य स्थापना की समाजगत महत्वाकांक्षा ही थी । यही वह कारण था कि उन्होंने दो-दो साम्राज्यों मुगल सल्तनत और बीजापुर की निजाम शाही दोनों से टक्कर लेते हुए भी एक हिन्दू महाराष्ट्र की स्थापना के युग-संकल्प को पूरा किया ।

शिवाजी के पिता शाहजी स्वयं बीजापुर सुल्तान के मनसबदार थे । शिवाजी की माता जीजाबाई से उनकी बनती नहीं थी । जीजाबाई दादाजी कोणदेव नामक एक सुयोग्य सलाहकार की सहायता से शिवनेरी की छोटी सी जागीर का प्रबंध करती थीं । इस जागीर का इलाका नितांत अनुपजाऊ था सो आय भी नाम मात्र की ही होती थी । निकटवर्ती सहयाद्री उपत्यकाओं में बसने वाली आदिवासी मावला जाति उनकी प्रजा का प्रतिनिधित्व करती थी ।

पति प्रेम वंचिता जीजाबाई की कोख से १० अप्रैल १६२७ को इस नर रत्न का जन्म हुआ, शिवनेरी के पर्वतीय दुर्ग में । शाहजी ने दूसरा विवाह कर लिया था अतः वे जीजाबाई और उनके पुत्रों शिवाजी व शम्भाजी की ओर से उदासीन से ही थे । इन विकट परिस्थितियों का शिवाजी के निर्माण में महत्वपूर्ण हाथ रहा था । शिवाजी कोई असाधारण या चमत्कारी पुरुष नहीं थे । उन्हें आगे चलकर जो सफलताएं मिलीं वे मात्र उनके प्रखर व्यक्तित्व के कारण ही नहीं मिल गयी थीं, उन्होंने समय को देखते

हुए अपनी जो भूमिका चुनी थी वह इतनी निस्पृह व नैतिक बल समन्वित थी कि उन्हें पग-पग पर जन सामान्य का सहयोग मिलता चला गया ।

शिवाजी को व्यक्ति नहीं वरन् उस युग के प्रतीक पुरुष के रूप में देखने की चेष्टा करने पर उनकी असाधारण सफलताओं का मर्म समझ में आ जाता है कि कैसे एक उपेक्षित जागीर की स्वामिनी का साधनहीन पुत्र छत्रपति बन सका ।

जीजाबाई स्वयं कोई रूपवती महिला नहीं थी और इसी कारण उन्हें पति प्रेम से भी वंचित रहना पड़ा था । शारीरिक दृष्टि से शिवाजी अपनी माता पर ही गए थे कद से वे छोटे थे । चेहरा भी कोई विशेष आकर्षण लिए हुए नहीं था । किन्तु अपनी माता के अन्य महत्वपूर्ण गुण भी उन्हें विरासत में मिले थे आस्तिकता, चरित्रनिष्ठा और राष्ट्रीय भावना के रूप में ।

शिवाजी के निर्माण में जो महत्वपूर्ण भूमिका माता जीजाबाई और समर्थ गुरु रामदास की रही थी उन्हें भुलाया नहीं जा सकता था । स्वराज्य संस्थापना का श्रेय शिवाजी को मिला पर उसमें सहयोग सभी का रहा था । माता जीजाबाई ने उन्हें धीर, वीर, दृढ़व्रती और चरित्र बल सम्पन्न, प्रतिभा पुंज व्यक्तित्व प्रदान किया तो समर्थ गुरु रामदास ने उन्हें वह मंत्र दिया कि जिसकी साधना करने वाले को सहयोग देने हर कोई तैयार हो जाता है । शिवाजी की विशेषता यही रही कि उन्होंने अपने काम को पोली बाँसुरी की तरह व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं से शून्य कर लिया था । उनमें सुर जीजाबाई के, समर्थ गुरु रामदास के व महाराष्ट्र की जनता में अंकुरित हो रही स्वराज्य स्थापना की भावना के ही गूंजे । उन्होंने जो कार्य उठाया था वह व्यक्ति का कार्य नहीं था समाज का कार्य था, दूसरे शब्दों में कहें तो परमेश्वर का काम था और परमेश्वर का काम कभी रुकता नहीं सो नहीं रुका ।

समर्थ गुरु रामदास ने उन्हें शिष्य वरण करने के बाद जो आदेश दिया था वह यही था-"तुम्हारा मुख्य धर्म राज्य सम्पादन करके धर्म स्थापना करना है । देवताओं की सेवा, प्रजा का पालन और रक्षण करना तथा दीन-दुखियों का दुख दूर करना तुम्हारा कार्य है ।" यही उपदेश श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया था । अर्जुन ने जिस प्रकार युद्ध करके धर्म पालन किया अनीति पर तुले कौरवों का नाश किया उसी प्रकार शिवाजी ने भी राज्य स्थापना करके धर्म का पालन किया, अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति नहीं ।

अनीति, अन्याय और शोषण पर आधारित मुगल शासन और बीजापुर की निजाम शाही से महाराष्ट्र की जनता को मुक्त कराने के लिए जो संग्राम लड़ा गया था उसके सेनापति का पद उन्हें दिया गया था, उनके पात्रत्व को देखते हुए, इसलिए उन्हें जनता से हर संभव सहायता मिली । उनका ध्वज, धर्म ध्वज-भगवा ध्वज था । उस समय के साधु-संन्यासी धर्म राज्य की स्थापना के लिए शिवाजी के लिए गुप्तचर का काम करते थे । वे जब आगरा के किले से निकल भागे थे तो इन्हीं साधुओं की सहायता से वे महाराष्ट्र पहुँचे थे ।

समर्थ गुरु रामदास ने भी शिवाजी को खूब परख कर यह निर्देश दिया था कि धर्म राज्य की स्थापना करो । उनका राज्य जब थोड़ा विस्तीर्ण हो गया तो उनके गुरु राजधानी सतारा पहुँचे और उनके सामने भिक्षा पात्र फैला दिया । शिवाजी ने सारे राज्य का दान पत्र लिख कर उस पात्र में डाल दिया और गुरु के चरणों में नत हो गए । तब उन्होंने कहा-"हमें राज्य की आवश्यकता नहीं है । जनता को सुराज्य की आवश्यकता है सो उसकी स्थापना का संरक्षण कर पर अपने को स्वामी भूलकर भी न समझना ।"

शिवाजी ने सहयाद्री पर्वत पुत्रों-मालवे आदिवासियों की सहायता से एक एक करके बीजापुर सल्तनत और मुगलों के अधीन किले छीनने आरंभ किए और अपना राज्य विस्तार किया । उन्हें अपने सजातीय बंधुओं से आरंभ में सहयोग नहीं मिला । स्वाभिमानी और सरल स्वभाव मालवा वीरों ने शिवाजी के ध्येय की पूर्ति के लिए जो बलिदान दिए वे इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ बन चुके हैं । बाजीराव देशपांडे का बलिदान हमारे इतिहास की गौरवपूर्ण थाती है ।

शाहजी और जीजाबाई के विचार दो विपरीत ध्रुवों के से थे । जीजाबाई स्वाभिमानिनी और स्वतंत्रता प्रिय नारी थी वहीं शाहजी महत्वाकांक्षी परमुखापेक्षी थे । वे शिवाजी को अपने साथ बीजापुर दरबार में इस उद्देश्य से ले गए कि वे भी अपने पिता की तरह बीजापुर सल्तनत के मनसबदार बन जाएं पर वे तो माता जीजाबाई के हाथों गढ़े थे । उन्होंने सुल्तान को सलाम तक नहीं किया । शाहजी ने सुल्तान को समझा बुझा कर शांत किया और उन्हें पूना और सूपा की जागीर का प्रबंध दिलवा दिया ।

शिवाजी जितने कुशल रणनीतिज्ञ थे उतने ही चतुर राजनीतिज्ञ भी थे ।

राजनीति के गुरु उन्होंने दादाजी कोणदेव जैसे अनुभवी व्यक्ति से सीखे थे । दुष्टों के दलन के लिए छल-बल का सहारा लिया जाय तो इसे अनीति नहीं कहा जा सकता । अतः उन्होंने अपने अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए साम, दाम, दंड और भेद की नीति का सहारा लिया । इसका अर्थ यह कदापि नहीं लिया जा सकता कि वे चारित्रिक दृष्टि से दुर्बल थे । उस काल के समस्त राजाओं से दीखते हुए भी वे उन सबसे निराले थे ।

उन्होंने बीजापुर और दिल्ली की शत्रुता का भरपूर लाभ उठाया । पहले बीजापुर साम्राज्य की शक्ति क्षीण करने के लिए उन्होंने मुगल साम्राट औरंगजेब का साथ दिया और जब बीजापुर साम्राज्य दुर्बल पड़ गया तो उससे काफी प्रदेश छीन लिया । उन्होंने दगाबाज के साथ दगा भी किया तो विश्वासी के विश्वास की पूरी रक्षा भी की ।

शिवाजी के सैनिक मुगलों व बीजापुर सल्तनत की सेनाओं की रसद व गोला बारूद तथा मालगुजारी में वसूल किया गया धन भी मौका देखकर लूट लिया करते थे, पर उनकी यह नीति दुष्टों के साथ ही थी । एक बार जब उनका एक सेनापति एक किले की विजय के बाद किलेदार की रूपवती पुत्र वधू को भी पकड़ लाया तो शिवाजी को अपने सरदार की इस नासमझी पर बड़ा क्षोभ हुआ । उन्होंने अपने सरदार से कहा-"यदि हम भी ऐसा करने लगें तो हममें और लुटेरों में क्या अंतर रह जाएगा ।" भविष्य में कभी ऐसी भूल न करने का निर्देश देते हुए उन्होंने उस रूपवती रानी से अपने सरदार की नासमझी के लिए क्षमा माँगी तथा उसे ससम्मान अपने पति के पास भिजवा दिया ।

शिवाजी का यह नैतिक आदर्श और राष्ट्र प्रेम की उत्कट भावना जहाँ उनके साथियों में उनके लिए हँसते हँसते प्राण न्योछावर करने की प्रेरणा भर देते थे वहाँ शत्रु पक्ष के लोगों के दिलों में भी उनके प्रति प्रेम पैदा कर देते थे । जयपुर के राजा जयसिंह उनके इन्हीं गुणों पर रीझे थे । आगे चलकर जब औरंगजेब ने उन्हें आगरे के किले में बंदी बनाकर रखा था तो जयसिंह के पुत्र रामसिंह से उन्हें भरपूर सहायता मिली ।

शिवाजी काँटे से काँटा निकालना बखूबी जानते थे । दुष्ट व्यक्ति से सद्व्यवहार की आशा करना व्यर्थ होता है । उसको तो वैसे ही आचरण से जीता जा

सकता है जैसा कि उसके साथ उचित है । अफजल खाँ शिवाजी के प्राण हरने का षड़यंत्र रचकर बीजापुर सुल्तान की हैसियत से उनसे मिलने आया था । वे उस मिलने में धोखे की पूरी संभावना समझे हुए थे अतः पूरी तैयारी करके उससे मिलने गए और वह अपने षड़यंत्र को सफल कर पाता उसके पहले ही शिवाजी ने उसका काम तमाम कर दिया ।

जयपुर के राजा जयसिंह की राय से शिवाजी औरंगजेब के दरबार में उपस्थित हुए ताकि औरंगजेब जोधपुर नरेश जसवंत सिंह तथा जयपुर नरेश जयसिंह की तरह उन्हें भी अपने दरबार में उच्च स्थान देकर अपना मांडलिक बना ले । इसके पीछे उनकी यह नीति थी कि यदि औरंगजेब ऐसा कर लेता है तो उन्हें आगे के लिए मुगल सेनाओं से लोहा नहीं लेना पड़ेगा तथा वे जयसिंह तथा जसबंत सिंह जैसे हिन्दू राजाओं को भी अपनी ओर मिलाकर मुगल सल्तनत का सदा के लिए अंत कर देंगे । किंतु औरंगजेब भी एक ही काइयां था । वह शिवाजी को यह मौका नहीं देना चाहता था कि वे कोई खुराफात कर सकें । उसने वहाँ शिवाजी को वह सम्मान नहीं दिया जिसकी वे सोच रहे थे । वे मात्र पंचहजारी मनसबदार बनाए गए । वे अपने इस अपमान को सहन न कर सके । वे औरंगजेब के काइयांपन को पूरी तरह समझ गए थे अतः अब उसके सामने झुकना भी नहीं चाहते थे । वे किसी भी शर्त पर उसे अपना सम्राट स्वीकारने को तैयार नहीं हुए ।

आगरा के दीवाने खास और दीवाने आम में शिवाजी ने औरंगजेब की जो उपेक्षा की उसने उनके स्वाभिमान को उस बुलंदी पर ले जा चढ़ाया जो बड़े गर्व की बात है । औरंगजेब ने उन्हें आगरा के किले में बंदी बनाकर रख दिया । बंदीगृह से निकल भागने में उन्हें कई महीने लग गए । पर औरंगजेब इस सिंह को अपने पिंजरे में बंद करके रख न सका । वे चतुराई से उसमें से निकल गए ।

जितने समय तक वे महाराष्ट्र से बाहर रहे उनके थोड़े से सरदारों ने महाराष्ट्र में किसी प्रकार की अराजकता या उपद्रव नहीं होने दिया । बाहर से होने वाले आक्रमणों को भी उन्होंने उसी प्रकार रोके रखा । उनका कोई सरदार सपने में भी उनसे विद्रोह करने की सोच तक नहीं सकता । इसके मूल में शिवाजी की निस्पृहता और धर्म राज्य स्थापित करने की उत्कृष्ट कामना ही थी । उन्होंने कभी

अपने को राजा नहीं माना । वे सदा महाराष्ट्र के एक सामान्य सेवक की तरह ही रहे । ऐसे व्यक्ति से भला कौन विद्रोह कर सकता था ?

औरंगजेब को भी राजा जसवंत सिंह को भेजकर उनसे संधि करनी पड़ी और उन्हें एक स्वतंत्र राजा स्वीकार करना पड़ा । यह सब उसने इसलिए किया था कि उसे दूसरे क्षेत्रों में उठ रहे विद्रोहों को दबाना था । थोड़े ही समय बाद फिर उसे महाराष्ट्र से लड़ना पड़ा । शिवाजी ने इसके लिए तैयारियाँ कर ही रखी थीं । जीवन भर औरंगजेब महाराष्ट्र को दबाने की पुरजोर कोशिश करता रहा पर वह कभी सफल नहीं हो सका ।

शिवाजी को ऐसे ऐसे वीर साथी मिले जो देश के लिए प्राणों पर खेलने में हिचकिचाते नहीं थे । बाजीराव देशपांडे और तानाजी मालसरे जैसे सहस्रों वीर उनकी सेना में थे । महाराष्ट्र की पृष्ठभूमि तो समर्थ रामदास ने जन मानस में तैयार कर ही रखी थी उसे क्रियात्मक रूप शिवाजी ने दे डाला ।

युद्ध कौशल और नीति कौशल में ही नहीं राज्य प्रबंध के मामले में भी वे तत्कालीन राजाओं से निराले थे । उन्होंने वास्तव में सुशासन दिया था जनता को । उन्होंने राज्य प्रबंधकों के लिए अष्ट प्रधान मंडल की जिस परम्परा का प्रचलन किया जो आगे के लिए भी महाराष्ट्र मंडल की रीढ़ बना रहा ।

वे पहले राजा थो जिन्होंने जागीरदारी व जमींदारी की प्रथा बंद करके भू राजस्व वसूल करने के लिए सरकारी कर्मचारी नियुक्त किए । उनकी शासन व्यवस्था मौलिक थी पारंपरिक नहीं । इसमें प्रजा की उन्नति व सुख-सुविधा की भरपूर व्यवस्था थी ।

शिवाजी ने राज्य की अधिकतम शक्ति अष्ट प्रधान मंडल के अधीन रखी व स्वयं नाममात्र के राजा रहे । उन्होंने जिस सुराज्य के लिए लड़ाइयाँ लड़ी थीं, वह सुराज्य उन्होंने अपने सुप्रबंध द्वारा लाकर बताया भी सही । लगातार छत्तीस वर्ष तक उन्होंने वन पर्वत एक करके अनेकानेक युद्ध कर एक सशक्त महाराष्ट्र की स्थापना का स्वप्न साकार किया जो उस समय की आवश्यकता थी । उसके बीज लोगों के दिलों में विद्यमान थे पर उन्हें अंकुरित करके पल्लवित-पुष्पित पादप का रूप देने का श्रेय उन्हें मिला । महाराष्ट्र ही नहीं वे तो सारे भारत को मुस्लिम शासन से मुक्त देखना चाहते थे । बुंदेलखंड केसरी महाराज छत्रसाल को प्रारंभिक अवस्था में सहायता व

मार्गदर्शन शिवाजी से ही मिला था । इस परंपरा को शिवाजी के उत्तराधिकारियों ने भी निभाया ।

सन् १६८० में शिवाजी का देहावसान हो गया । उन्होंने अपने समय के एक युगपुरुष की भूमिका निभायी । उनका यह जीवन आदर्शों का एक चिरंतन प्रेरणा स्रोत है ।

स्वतंत्रता, स्वाभिमान और संस्कृति के संरक्षक

महाराजा छत्रसाल

उस दिन विंध्यवासिनी देवी के मंदिर पर भारी भीड़ लगी हुई थी । देवी पूजा के उत्सव का आयोजन चल रहा था और दूर-दूर से आए श्रद्धालु भक्त अपनी आराध्य जगज्जननी देवी के मंदिर में श्रद्धा के फूल चढ़ा रहे थे । मार्ग में चल रहे कुछ घुड़सवार एक बगीचे के पास रुके और उन्होंने बगीचे में फूल चुन रहे एक किशोर को फूहड़ता के साथ पुकारा । युवक ने फिर भी नम्रता और शिष्टता से उत्तर देते हुए पूछा-"क्या बात है ?"

"तुम लोग जिस देवी की पूजा करते हो, उस देवी का मंदिर कहाँ है ?"-घुड़सवार ने पूछा ।

किशोर युवक ने कहा-"क्या आप भी माँ की पूजा करने आए हो । जरा ठहरिए, मैं फूल चुन लूँ फिर हम साथ-साथ ही चलेंगे ।"

"हमारे पास समय नहीं है"-सरदार से लगने वाले घुड़सवार ने अहंकारपूर्वक कहा-"और हमें पूजा-बूजा से भी कोई मतलब नहीं है । हम तो सल्तनत के आदमी हैं और हमें वह मंदिर तोड़ना है ।"

तब तक नवयुवक के साथी भी एकत्र हो गए थे । युवक ने अपने फूलों की टोकरी अपने साथी को थमा दी और घुड़सवार के नजदीक जाकर बोला-"जरा तमीज से बात करो सरदार ! देवी माँ के लिए ऐसी बात मुँह से निकाली तो जबान खींच लूँगा ।"

युवक की भवें तन गयी थीं और होठ फड़फड़ाने लगे थे । घुड़सवार को इस

किशोर से ऐसे उत्तर की आशा नहीं थी । वह घोड़े से यह कहता हुआ नीचे उतरा- "तू तो क्या तेरी देवी माँ भी मेरा बाल-बाँका नहीं कर सकती । ठहर अभी तुझे मजा चखाता हूँ ।" यह कहता हुआ सरदार घोड़े से नीचे उतरा और उसके पास आने लगा । एक लड़के का ऐसा साहस, उस गर्वोन्मत्त घुड़सवार को सहन नहीं हो रहा था और वह इस तरह उत्तर देने वाले लड़के का सिर ही उतार लेने की सोच रहा था । घुड़सवार उतरकर युवक के पास आ ही रहा था कि युवक ने आनन-फानन में अपने कमर में खोंसी हुई तलवार निकाली और सरदार, जिसका कि नाम रसदुल्लाखाँ था, की छाती में घोंप दी । रसदुल्लाखां वहीं ढेर हो गया । अपने सरदार की यह दशा देखकर साथ आये अन्य घुड़सवार भी उस युवक पर टूट पड़े । युवक भी कोई कमजोर नहीं था । उसने तथा उसके साथियों ने मिलकर ऐसे वीरतापूर्ण हाथ दिखाए कि दुश्मन को छठी का दूध याद आ गया । इस छोटे से युद्ध की खबर मंदिर में पूजा कर रहे राजपूत वीरों और चंपतराय तक भी पहुँची, जो उस युवक के पिता थे । वे लोग जब तक तैयार होकर आते तब तक तो छत्रसाल अपने शत्रुओं पर काबू पा चुके थे ।

किशोर वय में ही अपनी संस्कृति के प्रति इतना भक्तिभाव रखने और आक्रमणकारियों का वीरतापूर्वक मुकाबला करने वाले इस युवक का नाम था छत्रसाल जिसके संबंध में शिवाजी के राजकवि भूषण ने कहा था-"सिवा को सराहौं के सराहौं छत्रसाल को ।" इतिहासकारों द्वारा बुंदेलखंड के शिवाजी कहे जाने वाले वीर छत्रसाल का जन्म सन् १६४९ में हुआ था । उनके पिता चंपतराय बुंदेलखंड के राजा थे । चंपतराय का अधिकांश जीवन शाहजहाँ और औरंगजेब से स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करते हुए बीता । तब बुंदेलखंड पर मुगलों का आधिपत्य हो गया था और शत्रु सेना चंपतराय को पकड़ने के लिए उनके पीछे-पीछे दौड़ रही थी । चंपतराय अपनी और बुंदेलखंड के भावी नर केसरी की जीवन रक्षा के लिए महारानी लाड़ कुंवरि के साथ विंध्याचल की मोर पहाड़ी में जा छुपे थे । अज्ञातवास के दौरान ४ मई को छत्रसाल का जन्म हुआ ।

चंपतराय सोचते थे कि अपना जीवन तो यहाँ-वहाँ लुकते-छिपते और शत्रु ठिकानों पर धावा बोलते ही बीतेगा । ऐसी परिस्थितियों में अबोध शिशु को सुरक्षापूर्वक पालना-पोसना कठिन था । इसलिए उन्होंने छत्रसाल को उसके

ननिहाल भेज दिया । लाड़कुंवरि के पिता अपनी बेटी की इस निशानी को राष्ट्र की धरोहर मानकर पालने-पोसने लगे । नाना के घर पर रहते हुए ही छत्रसाल ने तलवार चलाना, तीर-कमान से निशाना साधना और घुड़सवारी करना सीख लिया । इसके साथ ही उन्होंने संस्कृत की शिक्षा भी ग्रहण की ।

जब छत्रसाल १४ वर्ष के थे तभी उक्त घटना घटी । इस घटना के साथ ही उन्होंने अनुभव किया कि औरंगजेब के अधीन रहते हुए अपने धर्म और अपनी संस्कृति को स्वाभिमानपूर्वक अपनाना संभव नहीं है । उनके नाना के पास अक्सर दूसरे संबंधी भी आया करते थे, जो अन्य छोटी-छोटी रियासतों के स्वामी थे । उनकी बातचीतों से ही छत्रसाल को मालूम हुआ कि इन रियासतों को कर देना पड़ता है । इतना ही नहीं अपने धर्म का पालन करने के लिए भी हिन्दुओं को जजिया चुकाना पड़ता है । दो चार मर्तबा उन्होंने बातचीत के दौरान अपने संबंधियों को सलाह दी कि इस तरह अपमानपूर्वक जीने से तो बेहतर है कि संघर्ष करते हुए मृत्यु का वरण कर लिया जाय । संबंधियों ने इसे बचकाना कहा और यह व्यंग्य भी कसा कि-"तुम्हारे पिता ने ऐसा किया है तो उनको क्या परिणाम भुगतने पड़े हैं ।"

संबंधियों के सोचने-विचारने का यह ढंग देखकर छत्रसाल ने अपने उद्देश्य के लिए एक योजना बनायी । इसी बीच चंपतराय और लाड़कुंवरि शत्रु के हाथों पड़ जाने पर अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए आत्महत्या कर चुके थे । इस घटना ने छत्रसाल के खून में खौलाव ला दिया था पर उन्होंने धैर्य और सूझ-बूझ से काम लेना ही उचित समझा । वे महाराज जयसिंह के पास गए । जयसिंह उस समय औरंगजेब के अधीनस्थ, उसी आज्ञानुसार बरतने वाले राजा थे । जयसिंह के पास जाकर छत्रसाल ने अपना परिचय दिया और कहा कि वे सेना में भर्ती होना चाहते हैं । जयसिंह के कानों में तब विंध्यवासिनी देवी के मंदिर पर घटी घटना का विवरण पहुँच चुका था और वह इस युवक के शौर्य तथा साहस से बड़े प्रभावित भी हुए थे । उन्होंने छत्रसाल को अपनी सेना में भर्ती कर लिया ।

छत्रसाल जयसिंह की सेना के साथ युद्ध पर जाते और अपनी वीरता का बढ़ा-चढ़ा प्रदर्शन करते । इस प्रकार काम करने का उद्देश्य यह था कि वे युद्ध विद्या का व्यवहारिक शिक्षण प्राप्त करें और मुगलों की युद्धनीति को भी अच्छी तरह समझ

सकें । उन्होंने कई युद्धों में भाग लिया और जब देखा कि आवश्यक शिक्षण प्राप्त कर लिया है तो जा पहुँचे शिवाजी के पास । शिवाजी ने अपनी नीतिमत्ता, सूझ-बूझ और कौशल के बल पर एक सुगठित भारतीय साम्राज्य की स्थापना कर ली थी । उनके राज्य की सीमाओं पर कड़ा पहरा रहता था और कोई अजनबी इस पहरे से बचकर राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता था । अत: छत्रसाल ने वनमार्ग से छिपकर जाने का निश्चय किया । बरसात का मौसम था । रास्ते में भीमा नदी पड़ती थी और भीमा नदी में भयंकर बाढ़ आयी हुई थी । वे इस बाढ़ की परवाह किए बिना ही नदी में उतर पड़े और प्रलयंकर जल प्रवाह से संघर्ष करते हुए उस पार पहुँचे ।

शिवाजी के पास पहुँचकर छत्रसाल ने अपना परिचय दिया और अब तक की कहानी सुनायी तो वे बड़े प्रभावित हुए । उनके साथ कुछ और साथी भी थे । बड़े सम्मान के साथ शिवाजी ने छत्रसाल को अपने यहाँ ठहराया और उनकी योजना ध्यानपूर्वक सुनीं । छत्रसाल को उन्होंने अपने हाथ से तिलक लगाया और एक तलवार कमर में बाँधी । इस प्रकार शिवाजी ने छत्रसाल को संघर्ष की दीक्षा दी एवं हर घड़ी सहयोग करने का आश्वासन दिया । छत्रसाल वहाँ से बुंदेलखंड चले आए और वहाँ के आदिवासियों, मजदूर पेशाओं और निम्न श्रेणी के लोगों को संगठित करने का काम आरंभ किया । इस काम के लिए पैसे की आवश्यकता थी और पैसा छत्रसाल के पास था नहीं । थे तो कुछ गहने जो मोर पहाड़ी में उस मकान में उनकी माँ की निशानी के रूप में गड़े हुए थे जहाँ उनका जन्म हुआ था । छत्रसाल ने उन गहनों को बेचकर पैसा जुटाया और स्वतंत्रता प्रेमी नवयुवकों को संगठित करने लगे ।

इन सेनानियों को शस्त्र चलाने और घुड़सवारी करने का अभ्यास छत्रसाल स्वयं कराते थे । २२ साल की आयु में छत्रसाल ने क्रांति का बिगुल बजाया और मुगल छावनियों तथा किलों पर आक्रमण करने लगे । पद्धति वही थी जो शिवाजी ने अपनायी थी । शत्रु जब असावधान रहता तो रात के समय उसके डेरे पर जाकर धावा बोल देते । सबसे पहले सन् १६७२ में उन्होंने गढ़कोटा के किले पर अधिकार किया और उसके बाद विजय का जैसे ताँता सा लग गया । पन्ना को उन्होंने अपनी राजधानी बनाया और इसके बाद उनके आक्रमण दर आक्रमण का क्रम चलता रहा । कहते हैं छत्रसाल ने अपने जीवनकाल में ५२ लड़ाइयाँ लड़ीं

और बुंदेलखंड राज्य की सीमाओं को यमुना, चंबल और नर्मदा तक फैलाया। भारतमाता की पुत्रियाँ जैसे उनके राज्य की सीमा निर्धारित करती थीं।

सन् १६८४ में स्वामी प्राणनाथ से छत्रसाल की भेंट हुई। समर्थ रामदास की भांति ही स्वामी प्राणनाथ भी किसी ऐसे शिष्य की खोज में घूम रहे थे जो उनके भारतीय साम्राज्य का स्वप्न साकार कर सके। छत्रसाल के संघर्षों की कहानियाँ उनके कानों तक पहुँचती रहती थीं और उनकी असंदिग्ध देशभक्ति तथा धर्मनिष्ठा से प्रभावित होकर स्वयं प्राणनाथ पन्ना आए थे। छत्रसाल ने स्वामी प्राणनाथ का खूब आदर-सत्कार किया और उनके लिए अपना सिंहासन खाली कर दिया। कुछ देर तक स्वामीजी सिंहासन पर बिराजे और फिर उठते हुए बोले-"अब यह राज्य तुम्हारा अपना नहीं है। मेरी अमानत के रूप में इसकी सुरक्षा और सुव्यवस्था करो।"

इससे पूर्व ही छत्रसाल स्वामी प्राणनाथ को अपना गुरु मान चुके थे। उन्होंने गुरु की अज्ञा को शिरोधार्य किया और आजीवन उनके आदेश का निष्ठापूर्वक पालन करते रहने का संकल्प लिया। इसके चार वर्ष बाद ही स्वामी प्राणनाथ ने छत्रसाल को 'महाराजा' की उपाधि से विभूषित किया। वस्तुतः उन्होंने अपने नाम को पहले ही सार्थक कर लिया था। उनका राज्य प्रबंध इतना बढ़िया था कि बुंदेलखंड राज्य की वार्षिक आमदनी १ करोड़ ८ लाख होती थी। छत्रसाल द्वारा अपने पुत्र को लिखे गए एक पत्र से पता चलता है कि वे राजकोष में १४ करोड़ रुपये छोड़कर मरे थे। जबकि औरंगजेब ने जनता को दोनों हाथों से लूटा-खसोटा और फिर भी उसके मरते समय दिल्ली का खजाना लगभग खाली था। दिल्ली और पन्ना के खजानों की यह स्थिति औरंगजेब की अविवेकपूर्ण राजनीति और छत्रसाल की दूरदर्शितापूर्ण प्रशासन व दक्षता का प्रमाण है।

छत्रसाल अंतिम सांस तक भारतमाता का चप्पा-चप्पा स्वतंत्र कराने के लिए संघर्ष करते रहे। उन्होंने अंतिम युद्ध ८० वर्ष की आयु में लड़ा जो मुहम्मद वंगश खाँ के साथ हुआ। इस युद्ध में पेशवा बाजीराव ने भी छत्रसाल का साथ दिया और स्वयं सेना लेकर पहुँचे। आजीवन लड़ाई के मैदान में जूझते हुए छत्रसाल के संबंध में यह जानकर आश्चर्य होना तो स्वाभाविक ही है कि वे अच्छे साहित्यकार भी थे। यों राजा-महाराजा साहित्य में रुचि तो लेते रहे हैं पर आश्चर्य इस बात का होता है कि जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत तलवारों की झंकार के नीचे रहने वाले

छत्रसाल काव्य रचना के लिए कब फुरसत निकाल लेते थे । उनकी प्रारंभिक रचनाएं 'छत्रसाल ग्रंथावलि' के नाम से प्रकाशित हुई । 'छत्र विलास', 'नीति मंजरी' और 'राजविनोद' के अलावा भी उनके रचे कुछ काव्यग्रंथ और भी हैं ।

स्वयं कवि होने के साथ-साथ छत्रसाल गुण ग्राहक भी थे । महाकवि भूषण को तो उन्होंने इतना सम्मान दिया कि उनकी पालकी ही अपने कंधे पर उठा ली । सन् १७२१ में उनका निधन हुआ । उन्होंने अपने जीवन काल में दिल्ली के तख्त पर आठ बादशाह बैठते और उतरते देखे पर आने वाली पीढ़ी को स्वतंत्रता का पाठ पढ़ाते हुए उन्होंने मध्य देश को स्वतंत्र कराने का लक्ष्य प्राप्त कर ही लिया ।

आदर्शों के हिमालय

राणा प्रताप

महाराणा प्रताप और छत्रपति शिवाजी-ये दो नाम ऐसे हैं जिन्हें सुनकर आज भी हमारे रक्त में एक सनसनाहट सी उपजने लगती है । यदि हमारा रक्त पानी नहीं बन गया है तो निश्चय ही ये नाम उसमें ज्वार उपजाए बिना नहीं रहते । इन महापुरुषों के व्यक्तित्व और कर्तृत्व को काल की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता । ये चिरंतन हैं, अमर हैं । आज भी और हर काल में भी ये नाम उतने ही प्रभामय और प्रेरक हैं और रहेंगे ।

व्यक्ति की अपनी नैतिकता अपना आदर्श और अपना स्वाभिमान तथा राष्ट्रीय गौरव वह अलंकरण है जिसके आगे राज्य वैभव और विलास के समग्र साधन तुच्छ हैं । वह जीवन भी क्या जीवन है जिसका कोई मानवोचित आदर्श नहीं । वह व्यक्ति क्या व्यक्ति है जो अनीति, अनाचार और दुष्टता से समझौता कर ले । ऐसे व्यक्ति की साँस भले ही चल रही हो पर वह निष्प्राण है, निर्जीव, चेतना हीन है । महाराणा प्रताप का जीवन इसी आदर्श का प्रतीक है ।

महाराणा प्रताप का जन्म सन् १५४० में मेवाड़ के महाराणा राजवंश में हुआ । यह वही राजवंश था जिसने महाराणा सांगा और महाराणा कुंभा जैसे आदर्श प्रजा

सेवी शासक व मातृभूमि के रक्षकों को जन्म दिया था । महाराणा सागा के पौत्र होने का जहाँ प्रताप को गर्व था वहीं महाराणा उदय सिंह के पुत्र होने का दुख भी । उदय सिंह अपने पिता और मेवाड़ की शौर्य परंपरा को निभाने में असमर्थ ही रहे थे । उनके पिता ने ठेठ आगरा के पास खानवा के मैदान में जाकर भारत पर आक्रमण करने वाले बाबर से लोहा लिया था । पर उदय सिंह उसके पौत्र अकबर से चित्तौड़ की रक्षा नहीं कर सके । वे वहाँ से भाग खड़े हुए ।

प्रताप की माता यद्यपि राजकुमारी नहीं थीं । वे उदयपुर के निकटवर्ती ग्राम देबारी के देगड़ा वंश की कन्या थीं । उनके पिता कृषि कर्म करते थे । वे पढ़ी-लिखी भी नहीं थीं । पर संतान का निर्माण कैसे किया जाता है इस कला में वे अति प्रवीण थीं । शरीर से पूरी तरह स्वस्थ और मन से पूरी तरह निर्मल माता ने जहाँ राणा प्रताप को भीम का सा शारीरिक बल दिया वहीं हिमालय की आदर्श-निष्ठा और मनोबल भी दिया था । शिवाजी को छत्रपति बनाने का श्रेय जो उनकी माता जीजाबाई को है, वही महाराणा प्रताप को स्वाधीनता के अमर रक्षक और महान तपस्वी बनाने का श्रेय उनकी माता को ही है ।

उदयसिंह ने चित्तौड़ छोड़कर अरावली पर्वतों में सुरक्षित स्थल पर उदयपुर नगर का निर्माण किया था । उन्हीं पर्वतों में आखेट खेलते समय उन्होंने एक दिन एक स्वस्थ, सबल कन्या को अरावली की खड़ी चढ़ाई में सिर पर भारी बोझ और हाथों में चार-छः गाय के बछड़ों को पकड़े, जो अपनी बाल सुलभ मस्ती में पीछे की ओर लटक रहे थे, बड़ी सहजता से चढ़ते देखा तो उनके मन में विचार उठा कि इस कन्या के कोई पुत्र हो तो कैसा बलिष्ठ होगा । उनका यह विचार ही इस कृषक कन्या को मेवाड़ की महारानी बनाने का कारण बना ।

राणा प्रताप का जिरह बख्तर लोहे का टोप व भाले आदि का वजन ही इतना था कि अकेला आदमी उसे उठा नहीं सकता फिर भी उनका शरीर कैसा होगा ? इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है । उनकी माता यद्यपि राज कन्या नहीं थीं पर जिस कुल की वह वधू बनी थीं उसकी मान-मर्यादा और गौरव का उन्हें पूरा ध्यान था । उन्होंने राणा प्रताप को तन और मन दोनों से इतना सबल बना दिया कि वे मुगल सम्राट से बराबर की टक्कर ले सकें । एक ओर उन्हें वीर और त्यागी महापुरुषों की कहानियाँ सुना-सुना कर उनमें उच्च भावनाएं भरीं, दूसरी ओर

शस्त्र संचालन सिखाने और उनके शारीरिक बल संवर्द्धन की ओर भी उनकी माता ने पूरा ध्यान दिया ।

महाराणा उदयसिंह का ध्यान अपनी स्वतंत्रता की रक्षा से अधिक हास-विलास में लगता था । उनका अधिकांश समय इन्हीं में बीतता था । राणा प्रताप की सौतेली माता ने जो एक राज कन्या थी, उनसे अपने पुत्र जयमाल को महाराणा बनाने का वचन ले लिया था । प्रताप की जननी ने अपने पुत्र के व्यक्तित्व व चरित्र निर्माण पर अधिक ध्यान दिया था, न कि उसे महाराणा बनाने पर । इस कारण आरंभ से ही उनका लक्ष्य मातृभूमि की सेवा करना था न कि राजा बनकर सुख भोगने का । राणा कोई भी रहे वे तो मेवाड़ को स्वाधीन देखना चाहते थे-चित्तौड़ को मुगलों के अधिकार से मुक्त करना चाहते थे ।

मेवाड़ के वीर सरदार उदयसिंह की कायरता पर क्षुब्ध थे । उनकी नजर प्रताप पर लगी थी । अपने दादा के समस्त गुण वे पौत्र में देख रहे थे जिनके नेतृत्व में वे देश की रक्षा के लिए बाबर से जूझे थे । मेवाड़ी वीरों की अपनी राष्ट्रीय परंपरा रही थी । वे सारे भारत को अपना देश मानते थे तभी तो मुहम्मद गोरी के आक्रमणों के समय हर बार वे रावल समर विक्रम के साथ पानीपत के मैदान में लड़े थे ।

उदयसिंह की मृत्यु पर उनकी इच्छा के अनुसार जयमल को सिंहासन पर नहीं बैठने दिया गया, सरदारों ने प्रताप को महाराणा बनाया । प्रताप के लिए महाराणा बनने का अर्थ ही दूसरा था । वे सिंहासन पर पीछे बैठे पहले उन्होंने प्रतिज्ञा की-"मैं जब तक चित्तौड़ पर केसरिया ध्वज नहीं लहराऊँगा तब तक थाली में नहीं पत्तल पर भोजन करूँगा, भूमि पर शयन करूँगा, झोंपड़ी में रहूँगा और नगाड़ा नहीं बजाऊँगा ।"

हर कर्म का एक उद्देश्य होता है । यह उद्देश्य ही मनुष्य को क्षुद्र और महान बना देता है । जहाँ व्यक्तिगत स्वार्थ व सुख के लिए कुछ किया जाता है वहाँ क्षुद्रता और जहाँ किसी आदर्श के लिए कार्य किया जाता है वहाँ महानता की बात होती है । प्रताप ने महाराणा का पद अधिकार भोगने के लिए नहीं कर्तव्य निभाने के लिए, व्यक्तिगत सुख भोग के लिए नहीं राष्ट्रीय गौरव के लिए स्वीकारा । यह उनकी महानता का परिचायक है । महानता का पथ यही है । पथ तो प्रस्तुत रहा है, अभाव तो पथिकों का ही है ।

प्रताप ने राज्य सिंहासन पर बैठते ही मेवाड़ की बिखरी शक्ति को पुनर्गठित करना आरंभ कर दिया । महाराणा उदयसिंह के काल में यह लगभग उपेक्षित ही रही थी । मेवाड़ के स्वाधीनता प्रिय सरदारों के हृदय में एक नया जोश उत्पन्न हो गया अपने इस नायक को देख कर । किन्तु प्रताप कुछ इससे भी दूर की बात सोच रहे थे । अब तक राज्य की रक्षा का काम थोड़े से सामंतों और उनके सहायकों का कार्य रहा था । राजा सामंत और प्रजा ये उस समय की राजनैतिक समाज व्यवस्था के तीन आधार थे । इनमें एक आधार पर जो प्रजा अर्थात नागरिकों का था वह प्राय: राज्य की गतिविधियों में कोई भाग नहीं लेता था । वे तो राजा यदि अच्छा हुआ तो उसके राज्य में थोड़ी सी राहत पा लेते थे और बुरा हुआ तो उसके अन्याय को सह लेते थे । राज्य व्यवस्था और राज्य की सुरक्षा के संबंध में यह वर्ग न तो अपना कोई कर्तव्य समझता था न अधिकार । यह तो बेचारी प्रजा थी जिस पर राजा और उसके मुट्ठी भर सामंत शासन करते थे ।

प्रताप को यह व्यवस्था कुछ उचित और युक्ति संगत न जान पड़ी । उन्होंने राजा सामंत और प्रजा के बीच की दीवारों को तोड़ने का प्रयास किया । उदयपुर और उसके आसपास के क्षेत्र में जो कि अरावली पर्वत श्रेणियों के कारण निरा बीहड़ था, कृषि योग्य भूमि बहुत कम थी । सब ओर जंगल ही जंगल था । इस जंगल में भील और मीणा नाम के आदिवासी लोग रहते थे, जो सभ्यता में पिछड़े होकर भी अपनी नैसर्गिक ईमानदारी, विश्वास और धर्मनिष्ठा के लिए प्रसिद्ध थे । महाराणा प्रताप ने इन लोगों को अपना सहयोगी बनाया । वे उनमें एक राजा की तरह नहीं उनके एक देशवासी भाई की तरह रहे, उनका हृदय जीता और उनमें यह भावना जगायी कि यह धरती उनकी है, उसकी रक्षा का दायित्व उनका भी है तथा राज्य की गतिविधियों में उनका भी हक है ।

महाराणा प्रताप एक ओर अपने सरदारों-सामंतों को अपनी मातृभूमि के खोये हुए भाग की पुन:प्राप्ति के लिए संगठित व शक्तिशाली बना रहे थे वहीं दूसरी ओर आदिवासियों में राष्ट्रीय भावना जगा रहे थे । तभी दुर्योग से जयपुर काराजा मानसिंह, जो अकबर की अधीनता स्वीकार कर चुका था, साथ ही अपनी बहन का विवाह उससे कर चुका था, दक्षिण विजय करता हुआ इधर होकर निकला । उदय सागर के तट पर महाराणा अपने आदिवासी सहायकों के साथ शिविर डाले पड़े थे । थोड़े ही

दिनों में ही महाराणा ने इन प्रकृति पुत्रों का हृदय जीत लिया था । महाराणा उनके साथ बिना किसी दुख के रहते थे । मानसिंह का महाराणा ने अच्छा स्वागत-सत्कार किया । उसके स्वागत में अच्छा-खासा भोज दिया, पर जहाँ साथ बैठकर भोजन करने की बात थी राणा टाल गए । स्वतंत्रता प्रेमी भील आदिवासियों के साथ एक ही पंगत में बैठकर भोजन करने वाले राणा को अपने स्वार्थ और सुख के लिए अपने जातीय और राष्ट्रीय स्वाभिमान को भुलाकर विधर्मी, विदेशी अकबर की अधीनता स्वीकार करने व अपनी बहन ब्याह देने वाले आदर्शच्युत मानसिंह के साथ बैठकर भोजन करना गवारा न हुआ । उन्होंने कहला भेजा उनके सिर में दर्द है ।

मानसिंह दर्द को समझ गया । अगले ही वर्ष वह इस दर्द की दवा करने शाहजादा सलीम के साथ एक विशाल सेना लेकर आ उपस्थित हुआ । महाराणा की तैयारी अभी अधूरी ही थी मुगल सेना की तुलना में उनके पास बहुत कम सेना थी । हल्दीघाटी के मैदान में दोनों का जमकर मुकाबला हुआ । महाराणा प्रताप और उसके देशभक्त साथियों की वीरता देखते ही बनती थी । राणा पूरे जोश में थे और उनके सैनिक भी । लगता था वे मुगल सेना को गाजर-मूली की तरह काटकर रख देंगे । सलीम मरते-मरते बचा । मानसिंह भय के मारे सामने नहीं आया । संख्या में कम होने के कारण राणा के साथी कट कर मरने लगे । इस युद्ध में उन्हें भयंकर हानि उठानी पड़ी ।

अपने थोड़े से साथियों के साथ उन्हें वन-वन भटकना पड़ा । ऐसे समय में पर्वत पुत्र आदिवासियों ने अपने देश के वीर नायक की भरपूर सहायता की । वे हल्दी घाटी के युद्ध में भी लड़े थे उनके साथ । मुगल सेना पीछे पड़ी थी । खाने के लिए घास की रोटियाँ मिलती, कभी वे भी नहीं मिलतीं । राजकुमार के हाथ से वन विलास घास की रोटी छीन कर भाग खड़ा होता है । महाराणा रोटी के अभाव में बिलखते राजकुमार को देखते हैं तो आँखें भर आती हैं । सोचते हैं वे भी झुक जाँय, अनीति के आगे हार मान लें । नहीं, फिर आदर्शों के लिए कौन कठिनाइयों, कष्टों को सहन करेगा ?

महाराणा का यह स्वातंत्र्य प्रेम का उच्चादर्श भारतीय इतिहास की अनमोल थाती बनकर रह गया है । आज भी उनकी जयंतियाँ मनाई जाती हैं, उनकी प्रतिमाएं

प्रतिष्ठित की जाती हैं क्यों उन्होंने एक महानतम भावना को उच्चतम विकास दिया था । कवि बाँकीदास ने उनके लिए लिखा है-

"अकबर घोर अंधार उघाणा हिन्दु अवर । जागे जगदातार पोहरे राणाप्रताप सी ।" अकबर रूपी घोर अंधकार भरी रात्रि में सब भारतीय हो सो गए हैं किन्तु इस संसार के रचने वाले ईश्वर के महानतम अंश को स्वयं में जगाए हुए राणा प्रताप प्रहरी बने जागकर राष्ट्र की संस्कृति की रक्षा कर रहे हैं । आज जब सारा संसार अनैतिकता के अंधकार में डूबा हुआ है, तब इस अनैतिकता को मिटाने के शक्ति भर प्रयास करने वाले थोड़े से नैतिक लोगों के लिए उनका यह साहस क्या छोटा-मोटा संबल है ?

सत्य है महाराणा प्रताप के एक एक करके सभी किले मुगलों के अधिकार में चले गए थे । उन्हें वर्षों तक बीहड़-वनों में अपने परिवार व अपने मुट्ठी भर साथियों के साथ घोर अभाव व कष्टों भरा जीवन व्यतीत करना पड़ा । जिन राजकुमारों के पाँव मखमल की सेजों से नीचे नहीं पड़ते थे वे घास की रोटी के लिए तरसे । किन्तु इस तप ने राणा की नैतिक विजय का लोहा उन हिन्दू राजाओं को ही नहीं मनवा दिया जिन्होंने स्वार्थ और सुख के लिए अपनी स्वतंत्रता व अपने राष्ट्रीय गौरव को बेच दिया था, वरन् स्वयं अकबर ने भी माना । कोई व्यक्ति बिना राज्य और बिना किसी सम्पदा के भी महान हो सकता है । यह उसने भी जाना ।

अकबर का दरबारी रत्न अब्दुर्रहीम खानखाना राणा की महानता पर मुग्ध था । बीकानेर महाराज का भाई पृथ्वीराज राठौर उसके मुँह के सामने महाराणा के अपराजेय व्यक्तित्व और स्वातंत्र्य प्रेम के गीत गाता था । मानसिंह और अन्य राजा भी मन ही मन अपनी क्षुद्रता को समझ रहे थे । इन सबके सामने उसे हल्दीघाटी के युद्ध में हुई अपनी विजय फीकी लगती थी ।

उनकी जो प्रतिज्ञा थी कि उनका मस्तक केवल ईश्वर के सामने झुक सकता है, इस प्रतिज्ञा में उनका अहम् नहीं वरन् उनकी ईश्वर निष्ठा, संस्कृति निष्ठा व राष्ट्र निष्ठा ही बोल रही थी । वे मातृभूमि छोड़ने और सिंध के रेगिस्तान में जाकर नयी शक्ति संगठित करने के लिए तैयार थे, पर वे अपने देश की स्वतंत्रता को व्यक्तिगत सुखों के लिए बेचने को तैयार नहीं हुए । कहना न होगा कि स्वतंत्र भारत उस समय राणा के हृदय में अवस्थित था । द्वितीय विश्वयुद्ध के समय समस्त फ्रांस पर जर्मनी

की सेना का अधिकार था पर जनरल दगाल के साथ फ्रांस का अस्तित्व व व्यक्तित्व इंग्लैंड में सुरक्षित था। ठीक उसी प्रकार राणा प्रताप सारे देश की स्वतंत्रता के प्रतीक बन चुके थे जबकि वे खाली हाथ थे, राज्य छिन चुका था।

राणा का तप पूरा हुआ। भामाशाह के रूप में ईश्वर ने उसकी मनोकामना पूरी कर दी। भामाशाह ने अपने कोष की कुंजी उनके चरणों में रख दी जिससे २५ हजार व्यक्ति बारह वर्ष तक गुजर कर सकते थे। इस धन से उन्होंने पुन: शक्ति संगठित की और एक एक करके बत्तीस किले मुगलों से छीन लिए। केवल चित्तौड़ और मांडलगढ़ के दो दुर्ग जीतने शेष रहे थे कि यह अमर विभूति इस संसार को छोड़ गयी। महाराणा प्रताप का यह स्वातंत्र्य प्रेम आदर्शमय जीवन यदि हमारे रक्त में उबाल न लाए और हम इस अनैतिकता की सर्वभक्षी विभीषिका से स्वयं मुक्ति पाने और समाज को मुक्ति दिलाने के लिए व्यक्तिगत सुखों का मोह न त्याग करें तो इससे बड़ी लज्जा की बात और क्या होगी ?



मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ.प्र.)